नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १४—संवत् १९

संपादक

श्यामसुंदरदास

—:o:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

(१७) 'जायसी' का जीवन-वृत्त

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय एम० ए०, काशी]

ग्रियर्सन साहब एवं पंडित सुधाकर द्विवेदी ने मलिक मुहम्मद जायसी के उद्धार की जो चेष्टा की थी उसके विषय में श्रद्धेय शुक्लजी का कथन है—"इसी प्रकार की भूलों से टीका भरी हुई है। टीका का नाम रखा गया है 'सुधाकर-चंद्रिका'। पर यह चंद्रिका है कि घोर अंधकार! अच्छा हुआ कि एशियाटिक सोसाइटी ने थोड़ा सा निकालकर ही छोड़ दिया[1]।" इस घोर अंधकार से प्रकाश में लाने के लिये "प्रत्येक पृष्ठ में असाधारण या कठिन शब्दों, वाक्यों और कहीं कहीं चरणों के अर्थ फुटनोट मे बराबर दिए गए हैं जिससे पाठकों को बहुत सुभीता होगा। इसके अतिरिक्त, मलिक मुहम्मद जायसी पर एक विस्तृत निबंध भी ग्रंथारंभ के पहले लगा दिया गया है जिसमें मैंने कवि की विशेषताओं के अन्वेषण और गुण-दोषों के विवेचन का प्रयत्न अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार किया है[2]।" प्रस्तुत अवतरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने पाठकों को, जायसी के 'जीवन-वृत्त' के लिये, उसी घोर अंधकार में छोड़कर केवल 'कवि की विशेषताओं के अन्वेषण और गुण-दोषों के विवेचन का प्रयत्न' किया है। शुक्लजी की उस उपेक्षा की पूर्ति आज तक न हो सकी। कुछ दिन पहले यह बात रायबहादुर लाला सीताराम को सूझी। उन्होंने

उपोद्घात

(१) जायसी-ग्रंथावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, नागरी-प्रचारिणी सभा, वक्तव्य, पृ० ४

(२) जायसी-ग्रंथावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, नागरी-प्रचारिणी सभा, वक्तव्य, पृ० ८

जायसी के जीवन-वृत्त का अनुसंधान सरकारी ढंग पर आरंभ किया। उनके संशोधन की दामिनी दमककर फिर उसी घोर अंधकार में लुप्त हो गई। उक्त विद्वानों के अतिरिक्त जायसी के संबंध में जिन विद्वानों ने जो कुछ लिखा है उसका विशेष महत्त्व नहीं है। उनके प्रयत्न अनुसंधान नहीं, परिचय मात्र हैं।

हमारा प्रयत्न

पदमावत तथा अखरावट के परितः परिशीलन से जायसी के जीवन के विषय में जो कुछ पता चला वह प्रचलित जीवन-वृत्त से इतना भिन्न था कि हमें उसकी साधुता में सर्वथा संदेह होने लगा। 'पदमावत की लिपि तथा रचना-काल' नामक लेख में, प्रसंगवश कहीं कहीं हमने इस ओर संकेत भी कर दिया था। अपने विचारों की साधुता को पुष्ट करने तथा जायसी के जीवन से परिचित होने की लालसा से हमें अमेठी, जायस आदि उन स्थानों पर जाना पड़ा जिनसे मलिक मुहम्मद साहब का संबंध कहा जाता था। इसका परिणाम हमारे लिये बहुत ही सुखद हुआ। हमें विश्वास हो गया कि एक दिन हम जायसी की जीवनी लिखने में समर्थ हो सकते हैं। फिर भी, यह तभी संभव है जब हिंदी के दिग्गज इस ओर उचित ध्यान दें। उनके उद्बोधन के लिये ही यह हमारा अल्प प्रयत्न है। यदि इससे 'सुधाकर-चंद्रिका' के घोर अंधकार पर कुछ भी प्रकाश पड़ा, जायसी के जीवन-वृत्त का कुछ भी यथार्थ परिचय मिला तो यह चेष्टा फलवती होगी।

विद्वानों के मत

परंपरा से मलिक मुहम्मद को जायसी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे जायस के निवासी थे। इस सहज प्रतिज्ञा में एक कठिन अड़चन है जिसके कारण हिंदी के मर्मज्ञ इसको ठीक नहीं समझते। उनका कथन है कि "जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह

बखानू'' से स्पष्ट है कि मलिक मुहम्मद कहीं बाहर से आकर जायस में बस गए थे। सुधाकरजी का कथन है—"इन्होंने कहीं बाहर से जायस में आकर पदुमावती को बनाया। बहुत लोग कहते हैं कि इनका जन्म-स्थान गाजीपुर है[1]।" मिश्रबंधुओं[2] ने इस विषय में सुधाकरजी का साथ दिया है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी[3] भी इसी मत से सहमत हैं। शुक्लजी[4] भी जनश्रुति के आधार पर एक प्रकार से इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी[5] की भी यही राय है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी-संसार ने यह मान लिया है कि जायसी का जन्म-स्थान जायस नहीं था; वे अन्यत्र, संभवतः गाजीपुर, से आकर वहाँ बस गए थे। जायस में आने का कारण तथा समय यह है—"परंपरा से प्रसिद्ध है कि एक इनका चेला अमेठी (अवध) में जाकर इनका नागमती का बारहमासा गा गाकर भीख माँगा करता था। एक दिन अमेठी के राजा ने इस बारहमासे को सुना। उन्हें वह बहुत अच्छा लगा।......उन्होंने फकीर से पूछा—'शाहजी! यह दोहा किसका बनाया है?' उस फकीर से मलिक मुहम्मद का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मान और विनय के साथ उन्हें अपने यहाँ बुलाया। तब से मलिक मुहम्मद जायस में आकर रहने लगे और वहीं पर इन्होंने पदमावत समाप्त की।"

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट अवगत होता है कि जायसी को अजायसी सिद्ध करने का मुख्य आधार "तहाँ आइ" पद्यांश ही है।

(१) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृ० १ भूमिका
(२) मिश्रबंधु-विनोद I, जायसी।
(३) कविता-कौमुदी I, जायसी।
(४) जायसी-ग्रंथावली, पृ० ७।
(५) संक्षिप्त पद्मावत, पृ० ६।

उक्त जनश्रुति तो उसके पुष्टीकरण में प्रमाण ठहरती है। अस्तु, हमको इस पद्य की परितः परीक्षा करनी चाहिए। जायसी स्वयं

जायस

जायस को धर्मस्थान कहते हैं; अपने आ बसने का कारण नहीं उपस्थित करते। इसमें भी कुछ रहस्य है। जायस आजकल एक मनहूस शहर माना जाता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि स्वयं सैयद अशरफ साहब ने भी जायस को इसी कारण त्याग दिया कि वहाँ रहने से उनके भाव-भजन में विघ्न पड़ता था। कुछ भी हो, आजकल जायस के विषय में यह कहा जाता है—"जायस जाइस ना, जाइस तो रहिस ना, रहिस तो खाइस ना, खाइस तो सोइस ना, सोइस तो रोइस ना।" यही नहीं, उसको लोग 'वड़का शहर' के नाम से ही याद करते हैं, उसका नाम लेना उचित नहीं समझते। इसके संबंध में दंत-कथाएँ भी बहुत सी हैं। प्रचलित प्रवादों की उपेक्षा कर यदि हम जायस की व्याख्या पर ध्यान देते हैं तो भी उसमें किसी प्रकार की धर्म-भावना नहीं मिलती। यदि हम इसका वास्तविक रूप 'जैस' (جیس) मानते हैं तो इसका अर्थ पड़ाव या छावनी ठहरता है, यदि जा + ऐश (جاعیس) तो विलास-भवन और यदि जा + अस्त (جاست) मानते हैं तो भी इसमें किसी प्रकार रमणीयता तो आ जाती है, पर पवित्रता का बोध नहीं होता। जहाँ तक हम समझ सके हैं 'जायस' शब्द जायस को धर्मस्थान नहीं बना सकता। इसका रहस्य इसके इतिहास में छिपा है।

जायस का इतिहास

जायस एक अति प्राचीन नगर है। मुगलसराय-लखनऊ-रेलवे का एक स्टेशन भी इसी नाम से ख्यात है। शहर स्टेशन से तीन मील की दूरी पर है। मुसलमानों के आगमन के पहले यह रजभरों का एक मुख्य गढ़ था। इसकी परिस्थिति और रंग-ढंग इसके प्राचीन गौरव

के सूचक हैं। कहा जाता है कि अति प्राचीन काल में यह उद्दालक मुनि का निवास-स्थान था। उद्दालक मुनि उपनिषदों के एक प्रसिद्ध ऋषि हैं। उन्हीं के नाम पर इस नगर का प्राचीन नाम उद्दानगर था। यहाँ पर विद्या का बहुत प्रचार था; अतः इसको कुछ लोग विद्यानगर भी कहते थे। इस प्रकार इस शहर के प्राचीन नाम[1] उद्यानगर, विद्यानगर, उद्यान-नगर एवं उज्जालिक नगर भी मिलते हैं। यह नगर ठीक रामनवमी को महमूद गजनवी के शासन में आया। उसकी सेना यहाँ पर ठहरी रही और उसमें के बहुत से सिपाही यहीं बस गए। इस शहर के मुहल्लों का नाम भी यही सिद्ध करता है। कंचाना मुहल्ले से 'जायसी' का विशेष संबंध है। हकीम अहमद अशरफ का कहना है कि फारस मे इस नाम की एक जगह है। कुछ भी हो, जायस इसी दृष्टि से धर्मस्थान कहा जा सकता है कि उसकी प्रतिष्ठा हिंदूकाल में धर्मरूप से थी। इस शहर में अब भी कुछ जैन बसते हैं, उनका मंदिर भी है। प्रतीत यह होता है कि मुसलमानों के बस जाने के कारण तथा उनके कुशल से न रह पाने के कारण भी इस शहर को उक्त बदनामी मिली। जायस की महत्ता का द्योतक उसका इतिहास[2] है। जायस अवश्य ही धर्म-स्थान था। उसमें अब भी एक आध हिंदू मंदिर हैं।

---

(१) Malik Mohammad Jaisi by Lala Sita Rama. All. U. Studies, Vol. VI, Part I, P. 325 (note).

(२) 'जायस का इतिहास' कई व्यक्तियों ने लिखा है। वह हिंदी तथा उर्दू में छप भी चुका है। आजकल जायस के सैयद आलेमुहम्मद बी० ए० जायस का एक बहुत ही अच्छा इतिहास, छान-बीन करके, लिख रहे हैं। आशा है, उसके प्रकाश में आने से बहुत सी बातों का पता स्पष्ट रूप से चल जायगा।

इस प्रकार जायस नगर को धर्म-स्थान सिद्ध करने के उपरांत अब यह विचार करना है कि 'वहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू' का क्या अर्थ है। हिंदी के विद्वानों ने इस 'आइ' के आधार पर यह सिद्ध मान लिया है कि जायसी जायस के निवासी नहीं थे। कुछ दिन पहले हमारी भी यही धारणा थी। जायस में जाने पर, जायसी के जन्म-स्थान का पता चल जाने पर, इस पर विशेष ध्यान देना स्वाभाविक ही था। जायस के कतिपय विद्वानों ने हमारा समाधान किया, अथवा करने की चेष्टा की। उनका कहना था कि 'आइ' का अर्थ 'जन्म लेकर' है; सूफी लोग प्रायः इस प्रकार का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में यह संतों के 'प्रकट होने' के समान है। जहाँ तक समझने की हममें क्षमता है, और सूफी साहित्य का जो कुछ अध्ययन हमने किया है, उसके आधार पर हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि उक्त दोनों अर्थ यथार्थ नहीं हैं। प्रथम अर्थ में आपत्ति यह है कि 'आइ' से सिद्ध यह किया जाता है कि जायसी जायस के रहनेवाले ही नहीं थे। जान पड़ता है कि किसी व्यक्ति के लिये अपने जन्म-स्थान से जाने-आने का प्रश्न ही नहीं रहता। कोई भी व्यक्ति अपने किसी कार्य के लिये यह कह सकता है कि अमुक स्थान, चाहे वह जन्म-स्थान ही क्यों न हो, पर आकर मैंने यह किया, वह किया। इस कथन से केवल यही निष्कर्ष निकालना उचित होता है कि उक्त कथन उसका उसी स्थान का है। निदान उक्त पद्य से ध्वनित यही होता है कि उसकी रचना तथा 'बखान', चाहे जिस किसी का हो, जायसी जायस नगर में कर रहे हैं, अन्यत्र नहीं। जायसी कहीं यात्रा में गए थे, वहाँ से आकर उन्होंने जायस में बखान किया। क्या बखान किया? यह भी एक प्रश्न है जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है।

'तहाँ आइ' की समीक्षा

पंडित सुधाकर द्विवेदी का मत है "तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" से स्पष्ट है कि इन्होंने कहीं बाहर से जायस में आकर पदुमावती को बनाया[1]।" पंडित रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं—"स्पष्ट है कि ये कहीं बाहर से जायस में आए और वहाँ इन्होंने पद्मावत लिखी[2]।" कहने का आशय यह है कि हिंदी मे यह मान्य हो गया है कि जायसी ने पदमावत का ही बखान किया। हमारी अल्प बुद्धि में इस 'बखान' का संबंध समूचे पदमावत से नहीं है। कारण यह है कि जायसी ने प्रस्तुत पद्य के अनंतर आगे चलकर लिखा है—"आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै।" जायसी पहले कहते हैं—"तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" फिर बाद मे कहते हैं—"लिखि भाखा चौपाई कहै"। जायसी के इस 'कीन्ह' और 'कहै' के, भूत और वर्त्तमान के विरोध पर विद्वानों ने ध्यान ही नहीं दिया, फिर वे बखान का संबंध पदमावत से क्यों न जोड़ लेते। पदमावत के स्तुति-खंड के इस विरोध की मीमांसा हमने 'पदमावत की लिपि तथा रचना-काल' नामक लेख में यथाशक्य की है। यहाँ पर हमको केवल यही कहना है कि इस 'बखान' का संबंध पदमावत से कदापि नहीं है। बखान का सामान्य अर्थ वर्णन करना है; किंतु यह वर्णन प्रशंसात्मक ही होता है। जायसी ने इस स्तुति-खंड में शेरशाह, सैयद अशरफ जहाँगीर तथा उनके वंश, मानिकपुर-वंश, अपना तथा अपने मित्रों का बखान किया है। जायसी अपने मित्रों के विषय में कहते हैं—"मुहमद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकै चित्त। एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त[3]।" ठीक इसी दोहे के उपरांत प्रस्तुत पद्य

'कीन्ह बखानू' का संबंध

---

(१) पद्मावत, नागरी-प्रचारिणी सभा, भूमिका

(२) कविता-कौमुदी I, जायसी।

(३) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

"जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" है। फिर, हमारी समझ में नहीं आता कि इसका संबंध संपूर्ण पदमावत से किस न्याय से संगत है? उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि 'तहाँ आइ' का अर्थ न तो जायसी के जन्मस्थान पर प्रकाश डालता है, और न उनके 'बाहर से आकर जायस में बस' जाने पर।

'तहाँ आइ' का रहस्य

इतना निवेदन करने के उपरांत हम यह आवश्यक समझते हैं कि 'तहाँ आइ' के रहस्य का उद्घाटन करें। जायसी के दोहे "दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज। बादशाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज[1]॥" पर विचार करते समय हमने लिखा था—"जान पड़ता है कि जायसी हमारी आँखों के सामने ही शेरशाह को हाथ उठाकर आशीर्वाद दे रहे हैं। इस 'दीन्ह' तथा 'तुम' पर ध्यान दीजिए।" कहा जाता है कि जायसी दिल्ली गए थे और वहीं पर, शेरशाह के दरबार में, उन्होंने अपने प्रसिद्ध वचन "मटियहिं हँसेसि कि कोहरहि[2]" का उद्घोष किया था। "हमारा अनुमान यह है कि इस राज्याभिषेक (ता० ७ शव्वाल सन् ९४८ हि०) के उपरांत ही जायसी ने शेरशाह की वंदना की और उसको पदमावत में स्थान दिया।" इस दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित हो जाता है कि "तहाँ आइ" का अर्थ

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

(२) हिंदी-संसार में इसका पाठ "मोहि कां हँसेसि कि कोहरहि" के रूप में विख्यात है। पर हमें सर्वत्र उक्त पाठ ही सुनने में आया। विचार करने पर ठीक भी यही समझ पड़ता है। जायसी के कहने का आशय यह था कि जो कुछ तुम देख रहे हो वह 'खाक का पुतला' है, जिसका बनानेवाला 'खुदा' है। अब या तो तुम मिट्टी को हँस सकते हो या ईश्वर को। किसी को भी हँसना व्यर्थ है। रही हमारी बात। वस्तुतः हम आप एक ही हैं, अतः अपने आप पर हँस किस प्रकार सकते हैं? हमारी दृष्टि में जायसी सा सच्चा सूफी अपने को शरीर नहीं समझ सकता था, वह शरीरी था।

क्या है। सच बात तो यह जान पड़ती है कि जायसी ने दिल्ली से जायस में आकर उक्त बखान किए; जो किसी प्रकार से परंपरा के प्रतिकूल नहीं कहे जा सकते। आज भी इस ढंग की बातें देखने में आती हैं। प्रस्तावना ग्रंथ के समाप्त होने पर भी लिखी जाती है, उसमें हेर-फेर होते ही रहते हैं।

हमने यह अच्छी तरह देख लिया कि "तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" के आधार पर हम यह नहीं सिद्ध कर सकते कि जायसी का जन्म-स्थान जायस नहीं था। यदि यह बात यहीं तक होती तो कुछ हानि नहीं थी। कहा

गाजीपुर, जन्म-स्थान

तो यहाँ तक गया है कि जायसी का जन्म-स्थान गाजीपुर था। इस कथन को पुष्ट करने के लिये यह प्रमाण दिया जाता है कि जायसी के मित्रों में दो ऐसे थे जिनका संबंध भोजपुर और गाजीपुर के महाराज जगतदेव से था। मियाँ सलोने को सलोनेसिंह भी कर दिया गया है। ग्रियर्सन[1] साहब का तो यहाँ तक कहना है कि उक्त महाशयों की जीवन-लीला गोरखपुर मे विषैले आम के अति-भक्षण के कारण समाप्त हो गई; किंतु मलिक मुहम्मद किसी प्रकार बच गए। चटगाँव की ओर ठीक इसी ढंग की एक मनोरंजक कथा प्रचलित है, जिसको प्राय: 'सत्यपीर' के उपासक गाते हैं। इस कथा में मृत्यु का कारण कटहल है, जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। संभवत: ग्रियर्सन साहब के इस भ्रम का आधार उक्त कथा ही हो। जायसी ने अपने मित्रों का परिचय अथवा उनका बखान इस प्रकार किया है—

"चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए॥
युसुफ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहिलै भेद बात वै जानी॥
पुनि सलार कादिम मतिमाहाँ। खाँडदान उभै निति बाहाँ॥

(१) सटीक पदुमावती, कलकत्ता, भूमिका पृष्ठ २।

मियाँ सलोने सिँह बरियारू। बीर खेत-रन खड्ग जुझारू॥
सेख बड़े, बड़ सिद्ध बखाना। किए आदेस सिद्ध बड़ माना॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। औ संजोग गोसाईं गढ़े॥
'मुहमद' चारिउ मीत मिलि, भए जो एकै चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त[1]॥"

इस अवतरण से जो कुछ पता चलता है वह उक्त साहब का विरोधी है। ग्रियर्सन साहब के कथन से सिद्ध होता है कि जायसी के मित्र सलार कादिम और सलोनेसिंह उनके सामने ही मर चुके थे। संभवतः जायसी का संबंध अभी तक जगतदेव से ही था, अमेठी के राजा से नहीं। यदि यह ठीक है तो पदमावत के, अथवा उक्त बखान के पहले ही उक्त मित्रों का स्वर्गवास हो चुका था; क्योंकि प्रस्तुत पद्यों से पता लगता है कि उस समय सभी मित्र जीवित थे। जायसी को उनकी मित्रता मे इतना संतोष था कि वे परलोक में भी उनके वियोग की कल्पना नहीं कर सकते थे। प्रसंग-वश इतना कह दिया। इतिहास की बात तो यह है कि उक्त सभी महानुभावों का निवास-स्थान जायस ही था। मियाँ सलोने मियाँ ही थे, सिंह नहीं। उनके भाई अथवा भतीजे सैयद प्यारे जायस के प्रथम जागीरदार थे। जायस के सभी जानकार आदमी उक्त व्यक्तियों से परिचित हैं; परिचय देने में कुछ भूल अवश्य करते हैं।

जायसी के गाजीपुरी होने का प्रबल प्रमाण अभी तक नहीं मिला। जो कुछ उसके पक्ष में कहा जाता है उसकी गति हमने देख ली। जायसी की भाषा क्या, पदमावत अखरावट आदि जायसी के किसी भी ग्रंथ से यह नहीं झलकता कि जायसी गाजीपुरी थे, जायसी नहीं। जिन लोगों ने मलिक मुहम्मद को अजायसी माना है उनका कथन है कि

जायस तथा अमेठी

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

अमेठी के राजा के अनुरोध से वे जायस में जाकर रहने लगे। सुधाकरजी[1] का कथन है—"निदान उस फकीर के कहने पर राजा ने अपने कई एक योग्य सरदारों को उसके साथ भेजकर बहुत विनय के साथ मलिक मुहम्मद को अपने यहाँ बुलाया; तब से यह जायस में रहने लगे और वहीं पर इन्होंने पद्मावती की रचना की।" अमेठी के तृतीय महाराजकुमार श्री रणंजयसिंहजी[2] से पता लगा कि जायस कभी अमेठी राज्य में नहीं था। स्वाभाविक तो यह था कि जायसी इस अवसर के उपरांत कहीं अमेठी राज्य या गढ़ के पास रहते न कि अन्य स्थान जायस में, जहाँ रजभरों का उपद्रव होता ही रहता था और जो मुसलमानों के हाथ मे बहुत दिनों से था।

जी तो नहीं चाहता, पर बुद्धि यही कहती है कि जायसी के विषय में, उनके जीवन के संबंध में हिंदी-संसार में जो कुछ प्रचलित है वह निराधार अथवा मनगढ़ंत ही है। स्वयं सुधाकरजी का आदेश है—"साची राह सुधारिए, इतिहासन के मीत। काहे आग्रह करि वृथा, थापत कठिन कुरीत[3]।" अस्तु, हमें निस्संकोच सत्य का प्रतिपादन करना धर्म्य है। हम साहस के साथ पुष्ट प्रमाणों के आधार पर कह सकते हैं कि मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म-स्थान जायस ही था, गाजीपुर या अन्यत्र नहीं। जायस के कंचाना मुहल्ले का नाम ऊपर लिया जा चुका है; जायसी की जन्मभूमि यही मुहल्ला है। उनके घर का चिह्न अब

जायसी की जन्मभूमि

(१) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ३।

(२) महाराजकुमार श्री रणंजयसिंहजी दद्दन साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपको साहित्य तथा धर्म से विशेष प्रेम है। आपने अपनी वंशावली तथा पुस्तकालय देखने की आज्ञा ही नहीं, उन्हें देखने में सहायता भी दी। आपसे अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चला। आपने जायसी की हस्त-लिखित पदमावत के लिये चेष्टा की। खेद है, वह मकान ही गिर गया जिसमें वह रखी थी।

(३) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ६।

भी आदरणीय है। उनके वंश में एक वहीद नामक सज्जन हैं जिनका कहना है कि उनके पास उनका वंशवृक्ष है। उन्होंने उसकी प्रतिलिपि देने का वचन भी दिया था। खेद है कि वे उन संतानों मे हैं जिनके विषय मे रहीम ने कहा था—"बारे उजियारो करै, बढ़े अँधेरो होय।" जायस के एक सज्जन ने खेद के साथ कहा था,—"जिस तरह मलिक साहब का खानदान बरबाद हुआ उस तरह खुदा करे दुश्मन का भी न हो।"

जायसी के पूर्वज

मलिक शब्द भी जायसी शब्द की तरह ही पेचीदा है। लाला सीताराम ने उसकी विशद व्याख्या की है। इस व्याख्या का परिणाम भयंकर है। आपका कथन है—"He was evidently the descendant of a Hindu convert and had received, as will be shown afterwards, a Sufi training."[1] लाला साहब ने मलिक मुहम्मद जायसी के किसी पूर्वज को हिंदू कहा है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट नहीं किया है कि उनके कथन का आशय क्या है। संभवतः जायसी के बाप-दादा से ही उनका तात्पर्य है। यदि ऐसा न मानें तो इसका कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। भारत के बाहर से आनेवाले मुसलमानों के पूर्वज भी हिंदू, बौद्ध तथा अन्यधर्मावलंबी थे। लालाजी की कल्पना कहाँ तक ठीक है यह कहना कठिन है। लालाजी इसको सिद्ध सा समझते हैं। उनके समझने का कारण पर्याप्त नहीं है। जिन दो व्यक्तियों को उन्होंने जायसी के विषय में छानबीन करने के लिये तैनात किया था, उनके विवरण में भी इस बात का संकेत नहीं है कि जायसी के बाप-दादा क्या थे, कब मुसलमान हुए। लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि जायसी के पूर्वज बाहर से भारत में आए। इस विषय की समुचित मीमांसा

(१) All. U. Studies, Vol. VI, Part I, P. 333.

इस समय नहीं हो सकती। मुसलमानों में यह बात विशेष रूप से देखी जाती है कि वे अपना संबंध अन्य देशों से ही स्थापित करना चाहते हैं। जो वस्तुतः हिंदू से मुसलमान हुए हैं—भारतीय वंश-परंपरा मे हैं—वे भी अपने को अरब और तुर्क ही सिद्ध करते हैं। इस संबंध मे हमे केवल इतना ही कहना है कि केवल मलिक शब्द के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि मलिक मुहम्मद जायसी के पूर्व-पुरुष हिंदू से मुसलमान हुए थे। लाला साहब स्वयं स्वीकार करते हैं कि गोंडा तथा फैजाबाद में मलिक उपाधिधारी अहीर हैं। मलिक शब्द का प्रयोग अन्यत्र किसी भी अर्थ में रहा हो, उससे हमारा विशेष संबंध नहीं, भारत में तो उसका प्रयोग १२ या १२०० सिपाहियों के मालिक के लिये ही होता था। मलकाना मलिक शब्द से भिन्न है। उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मलिक उपाधिधारी मुसलमान कभी हिंदू थे। आज भी बहुत से हिंदू मलिक कहलाते हैं। इस शब्द को चौधरी शब्द की भाँति उभयनिष्ठ या खाँ शब्द का समकक्ष समझना चाहिए, जिसका प्रयोग कभी कभी हिंदुओं के लिये भी परंपरागत है। मलिक उपाधि जायसी के सम्मान के लिये नहीं है, जैसा कि विनोदकार मानते हैं; यह उनकी बपौती है, उनके वंश के लोग सदा से मलिक कहे जाते हैं।

जायसी के अवशिष्ट

मलिक मुहम्मद जायसी वस्तुतः जायस के रहनेवाले थे। उनका जन्म-स्थान भी जायस का कंचाना मुहल्ला ही है। जायसी का अर्थ ही इस बात का प्रमाण था, फिर भी हमने विपक्ष की समीक्षा करते समय इस बात को पुष्ट करने की चेष्टा की है कि जायसी का जन्म-स्थान अन्यत्र नहीं था, उनके मित्र भी जायस ही के रहनेवाले थे। अमेठी, जायस आदि स्थानों में प्रसिद्ध भी यही है। जायस में उनके घर का अव-

शिष्ट अब भी बताया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह बात मनगढ़ंत नहीं है, क्योंकि यदि आप उनसे उनके कथन की साधुता में संदेह कीजिए तो वे यही उत्तर देते हैं कि खुदा जाने हम लोग तो यही सुनते आ रहे हैं। उनकी ओर से किसी प्रकार का आग्रह नहीं होगा। उनके वंशज वहीद की भी यही दशा है। वे आज भी जायस में मलिक नाम से ख्यात हैं और उसी कंचाना मुहल्ले मे पुराने घर के पास ही रहते भी हैं। खेद यही है कि उनसे कुछ काम नहीं निकल सकता। उनका कहना है कि मलिक मुहम्मद ने अपने वंशजों को पदमावत पढ़ने की आज्ञा नहीं दी। निदान उनके पास वंशावली को छोड़कर और कुछ भी सामग्री ऐसी नहीं है जिससे जायसी के जीवन पर प्रकाश पड़े। जायस में इस विषय के ज्ञाता अशरफ वंश के लोग ही हैं। उनसे मलिक मुहम्मद जायसी के विषय में जो कुछ पता चला उसी के आधार पर अब हम जायसी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं। जायस के सज्जादानशीन नकी साहब ने जायसी के विषय में कुछ लिपिबद्ध किया है। उनकी पुस्तक फारसी में है और अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। उसकी सहायता ही इस समय प्रधान है। जायसी के संबंध में जो कुछ प्रचलित अथवा लिपिबद्ध है उसकी समुचित समीक्षा उनके ग्रंथों तथा इतिहास के आधार पर करना ही श्रेय है।

अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उससे यह तो स्पष्ट अवगत हो गया होगा कि जायसी जायस के कंचाना मुहल्ले मे उत्पन्न हुए थे। उनके जन्म-काल के विषय में किसी को कुछ पता नहीं है। जायस में भी इस विषय की जानकारी किसी को नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जायसी के ग्रंथों में ही उनके जन्म की छानबीन हमने आरंभ की। जायसी

जायसी की जन्म-तिथि

का एक ग्रंथ है 'आखिरी कलाम[1]'। उसमें उन्होंने एक स्थल पर लिखा है--"भा अवतार मोर नव सदी। तीस बरख ऊपर कवि बदी।" इससे स्पष्ट है कि जायसी का जन्म सन् ८३० हि० में हुआ था। उनका जन्म-स्थान कहाँ था ? इसके विषय में उन्होंने जो "जायस नगर धरम-अस्थानू" कहा था उसका विवेचन हम कर चुके हैं। अन्यत्र[2] भी जायसी उसी का प्रतिपादन करते हैं। उनका आग्रह है--"जायस नगर मोर अस्थानू। नगर को नावँ आदि उदियानू॥ तहाँ दिवस दस पहुँने आयउँ। भा बैराग बहुत सुख पायउँ॥" इसमें संदेह नहीं कि जायसी अपना स्थान जायस को स्वीकार करते हैं और उसके प्राचीन नाम का परिचय भी देते हैं; किंतु जो लोग हेतुवाद के कट्टर पक्षपाती हैं वे कह सकते हैं कि जायसी तो यहाँ भी 'आयउँ' का प्रयोग करते हैं, अतः वे कहीं अन्यत्र से आकर यहाँ बस गए थे। निवास-स्थान हो जाने पर जायस उनका स्थान बना। उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि यहाँ जायसी के आने का कारण अमेठी के राजा की प्रेरणा नहीं है। यही नहीं, उनकी भावना भी इस स्थल पर सांसारिक नहीं है। वे कहते हैं--

"सुख भा सोच एक दुख मानूँ। वहि बिन जीवन मरन कै जानू॥
नैन रूप सों गयउ समाई। रहा पूर भर हिरदय छाई॥
जहाँ वै देखौं तहँ वै सोई। श्रौर न श्राव दिष्ट तर कोई॥
आपन देख देख मन राखौं। दूसर नाँव सो कासों भाखौं॥"

अस्तु, उक्त 'आयउँ' का अर्थ विचारपूर्वक लगाना चाहिए। जायसी का तात्पर्य "पहुँने आयउँ" से जायस में जन्म लेने का ही है। 'दिवस दस' का अर्थ यहाँ पर वही है जो 'दस दिन की जिंदगी'

---

(१) आखिरी कलाम, पृ० ५।
(२) आखिरी कलाम, पृ० ११।

में दस दिन का। जायसी ने अपने वैराग्य तथा विरह का वर्णन स्पष्ट कर दिया है, फिर संदेह कैसा ?

जायसी के संबंध की कुछ बातें

जायसी जायस में जनमे और वहीं फूले-फले। उनके माता-पिता सामान्य श्रेणी के गृहस्थ थे। कहा गया है कि उनके पिता का देहांत अल्पकाल ही में हो गया था। जायसी की एक आँख बचपन में शीतला से जाती रही। मकनपुर के मदारशाह की मनौती पूरी करने के पहले ही उनकी माता भी उनको अनाथ छोड़कर चल बसीं। जायसी सूफी फकीरों के साथ रहने लगे। यही हिंदी संसार का जायसी-संबंधी संक्षिप्त परिचय है, जो केवल अनुमान पर अवलंबित है। इधर लाला सीतारामजी शीतला की कथा के साथ ही साथ उनके काने होने को भी असत्य ही समझते हैं। कारण, न तो वे स्वयं पदमावत का अध्ययन करना चाहते हैं और न जायस में जाकर छान-बीन करना ही। जायसी के काने होने का पदमावत में स्पष्ट उल्लेख है—"एकनयन कवि मुहमद गुनी[१]" अथवा "मुहमद बाईं दिसि तजा एकनयन अरु कान[२]।" आँख जाने के विषय में शुक्लजी का मत मान्य है, सुधाकरजी या त्रिपाठीजी का नहीं। जायसी के काने होने में जायस या रायपुर (अमेठी) में भी किसी को संदेह नहीं है। हाँ, बहरे होने के संबंध में वे कुछ नहीं कहते। उनके कुरूप होने का प्रमाण 'मटियहि हँसेसि कि कोहरहि' प्रसिद्ध ही है। प्रश्न केवल यही है कि उनकी इस विशेष कुरूपता का कारण क्या है। शाह नकी साहब का कहना है कि जायसी की कुरूपता का कारण अर्द्धांग रोग है। कुछ लोगों का विचार है कि जन्म से ही वे कुरूप थे। जायसी ने 'बाईं दिसि तजा' का प्रयोग किया है। इस 'तजा' के अनुरोध

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।
(२) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

से कहा जा सकता है कि उनकी यह दशा जन्म-काल से न थी। जायसी ने बड़ी चातुरी एवं चमत्कार से इसका निर्देश किया है। उनको वाममार्ग इतना अनिष्ट था कि उन्होंने वाएँ कान एवं आँख को त्याग दिया। शीतला की अपेक्षा अर्द्धांगरोग से आक्रांत व्यक्ति में हास की सामग्री अधिक होती हैं। यदि यह ठीक है तो जायसी की अष्टावक्र-दशा का कारण उनका उक्त रोग ही है, शीतला नहीं।

जायसी के माता-पिता

रही जायसी के माता-पिता की बात; उनके विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका देहावसान कब, किस रूप में हुआ। इतना अवश्य है कि यदि जायसी बचपन में ही अनाथ हो जाते तो अवश्य ही कहीं न कहीं इसका संकेत अपने ग्रंथों में करते। उनके जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनमें उक्त विषय का आभास भी नहीं मिलता। यही नहीं, पदमावत जैसे विशद ग्रंथ में उन्होंने अपने वंश का परिचय नहीं दिया। इसका मुख्य कारण क्या था, हम नहीं कह सकते। पदमावत में वात्सल्य का भी एक प्रकार से अभाव ही है। उसके निदर्शन के जो अवसर आए हैं, जायसी ने या तो उनकी उपेक्षा की है या उनको चलता कर दिया है। जिस स्नेह को लेकर सूर और तुलसी ने कमाल किया है, उसी का अभाव जायसी में 'प्रेम की पीर' की दृष्टि से भी खटकता है। हो सकता है कि विरक्त हो जाने पर जायसी को वात्सल्य-भाव में मोह का दर्शन अधिक मिलता हो। सूफियों ने केवल माधुर्य-भाव ही को अपनाया है; अन्य भाव प्रसंगवश किसी अन्य रूप में आते हैं। पदमावत तथा अखरावट की रचना मुरीद होने पर जायसी ने की। संभवतः इस समय वे रमता-जोगी बन चुके थे। अस्तु, उनके लिये स्वाभाविक ही था कि अपने पूर्वजों का परिचय न देकर उस वंश का परिचय दें जिससे उनका उद्धार हो सका, उनको परमेश्वर का दर्शन मिला। निदान

हम कह सकते हैं कि जायसी के माता-पिता के अल्प काल मे स्वर्ग-वास होने का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। जायसी ने जहाँ कहीं अपने पीर अथवा गुरु का प्रसंग छेड़ा है वहाँ पर यही कहा है कि उनकी सेवा से मुझको सद्गति मिली। तात्पर्य यह कि जान-बूझकर उन्होंने सत्संग किया। पीर की ओर से जो प्रसाद मिला वह उनके परिश्रम का फल था, गुरु की कोरी कृपा का परिणाम नहीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जायसी उतनी अल्पावस्था में अनाथ नहीं हुए थे जितनी का प्रतिपादन हिंदी-साहित्य में होता रहा है।

जायसी के जीवन का अब तक जो कुछ परिचय हमें प्राप्त था उसके आधार पर हम यही समझते थे कि जायसी एक अविवाहित फकीर थे। इस धारणा का प्रधान कारण उनकी दशा एवं अपना संस्कार था। जायसी के विषय में अनुसंधान से जो पता चला है वह प्रकृत धारणा के परितः प्रतिकूल है। जायसी कुरूप अवश्य थे, किंतु वे निर्धन अथवा अनाथ न थे। संक्षेप में, वे मजे में कमाते खाते थे। वे उस दीन के पावंद थे जिसमें विवाह करना 'आधा बिहिश्त हासिल करना' था। इसलाम संन्यास का कट्टर विरोधी है। पदमावत का रतन-सेन भी पद्मावती के लिये योगी बनता है। सारांश यह कि जायसी जैसा दीन का पावंद अविवाहित नहीं रह सकता था। कहा जाता है कि जायसी का विवाह जायस में ही हुआ था। उनकी ससुराल के एक सज्जन, जिनका नाम संभवतः जाफर था, कह रहे थे कि जायसी अपने भाई से रुष्ट होकर ससुराल ही मे रहते तथा लिखा-पढ़ा करते थे। उन्होंने तो उक्त स्थान का निर्देश भी किया था। जायसी पदमावत मे कहीं कहीं कुछ ऐसा कह गए हैं जिनको आज-कल का सभ्य समाज स्त्री-निंदा समझ सकता है। फिर भी उनकी यह निंदा कबीर-कोटि की नहीं है। जायसी की दृष्टि में पति-पत्नी

विवाह

का प्रेम भी परमात्मापरक था। पदमावत में उन्होंने इसका प्रतिपादन किया है। एक विवाह की कौन कहे, वे बहु-विवाह के पोषक थे।

जायसी केवल विवाहित ही नहीं थे, उनके बाल-बच्चे भी थे। कहा जाता है[1] कि उनकी कुल सात संतानें थीं। जायसी के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उन सबका निधन हो गया। कुछ लोगों का कथन है कि जायसी के पीर मुबारक शाह पोस्ता पीते थे। जायसी ने उन्हीं को लक्ष्य कर एक छोटी सी पुस्तिका लिखी, जिसका नाम पोस्तीनामा है। जब पीर साहब ने इसको सुना तो सहसा बोल उठे "अरे बे औलाद, कहाँ उस्ताद की हजो करते हैं!" कहते हैं कि उसी दिन जायसी की सभी संतानें मकान की छत गिर जाने से मर गईं। जायसी पागल की तरह रहने लगे। एक दिन उनके उस्ताद ने उनकी दीन दशा देखकर पूछा कि जायसी की चिंता का कारण क्या था। जायसी ने कहा—"आपने मेरे अपराध का दंड दिया अब मेरा नाम कैसे चलेगा।" उस्ताद ने उत्तर दिया—"जिस कविता के कारण तुम निस्संतान हुए वही कविता तुमको अमर करेगी। तुम पोथी लिखो।" कुछ हेर-फेर के साथ यही कथा प्रसिद्ध है। यह कहाँ तक सत्य है? निश्चित रूप से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जायसी के ग्रंथों में कतिपय स्थल ऐसे हैं जिनके परिशीलन से पता चलता है कि जायसी के हृदय में यह कामना थी कि संसार में उनका नाम

बाल-बच्चे तथा आप

(१) मौलाना अहमद अशरफ साहब का कहना था कि जितनी संतानें थीं जायसी ने उतने ही ग्रंथ रचे। नाम भी वे अजीब ढंग के—चमकावत, मटकावत, इतरावत आदि—बतलाते थे। परंतु उनका मन साधु नहीं प्रतीत होता। उनके पास 'जायसी' की कोई अज्ञात पुस्तक नहीं है जैसा कि 'हिंदी के मुसलमान कवि' के लेखक की धारणा है।

रहे। 'पदमावत की लिपि तथा रचना-काल'[१] नामक लेख में हमने इसका संकेत इस प्रकार किया था—"पदमावत का अध्ययन करते करते जब हम उसकी कथा के उपसंहार में पहुँचते हैं तब हमारी कुछ विचित्र स्थिति हो जाती है।...उन्होंने उस स्थल पर अपनी एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय दे दिया है जिसकी संभावना हमको नहीं थी।" वह मनोवृत्ति यह है—"औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत में चीन्हा ॥...केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल? जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल[२] ॥" पदमावत ही में नहीं अखरावट के भी अंत में यही निवेदन है—"जो न मिटावै कोइ लिखा रहै बहुतै दिना[३]।" संभव है, अधिक संभव है कि जायसी की इस लालसा का मुख्य कारण उनका निस्संतान होना ही हो; नहीं तो फकीरों को नाम से क्या काम?

जायसी की जीविका खेती थी। आप अपने हाथ से हल चलाते, खेत निराते थे। आपको परमात्मा का साक्षात्कार विचित्र

परमात्मा का साक्षात्कार

रूप से हुआ। आपके विषय में यह कहा जाता है कि आपके गुरु की यह आज्ञा थी कि अकेले भोजन कभी मत करो। जायसी इसी नियम का पालन करते थे। इसलाम के अतिथि-सत्कार से यह अधिक व्यापक है। इसको "अघं स केवलं भुंक्ते" का प्रसाद समझना चाहिए। प्रसिद्ध है कि एक दिन जब जायसी हल चला रहे थे, एक लौंडी उनके पास भोजन लेकर आई। संयोग कुछ ऐसा था कि उस दिन जायसी को किसी व्यक्ति का दर्शन नहीं मिला। उन्होंने लौंडो से आग्रह किया

---

(१) नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १२ पृष्ठ १००।

(२) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३२२–३२३।

(३) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३७२।

कि किसी व्यक्ति को खोज लाए। जब उसने अपनी लाचारी जाहिर करते हुए कहा कि उसको बहुत ढूँढ़ने पर भी किसी की सूरत नजर नहीं आई तब जायसी स्वयं इधर-उधर देखने लगे। निदान उनको एक व्यक्ति लकड़ी का बोझ लादे दिखाई दिया। जायसी ने उसको बुलाकर साथ भोजन करने का आग्रह किया। उसने कुष्ठ से जर्जरित हाथ दिखाकर जायसी से प्रार्थना की। जायसी ने उसकी एक भी न सुनी। अंत में जब रक्त तथा पीब से आप्लावित शेषांश के पीने की बारी आई तब जायसी ने हठपूर्वक अपने आप ही पीना चाहा। ज्योंही उन्होंने उसको अपने मुँह से लगाया, उक्त कोढ़ी आँख से ओझल हो गया। जायसी विस्मय में बोल उठे—"बूँदहिं सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं"। अखरावट में पूरा पद्य इस प्रकार है—"बूँदहिं समुद समान, यह अचरज कासों कहौं। जो हेरा सो हेरान 'मुहमद' आपै आप महँ[1]।" कहा जाता है कि उसी दिन से जायसी विरक्त की भाँति रहने लगे और परमात्मा के विरह में निमग्न हो गए।

जायसी के गुरु के विषय में ऊपर मुबारकशाह बोदले का नाम लिया गया है। जायस में लोग उन्हीं को जायसी का पीर मानते हैं। हमारी समझ में जायसी के पीर मुबारक साहब नहीं थे। जायसी ने अपने पीर-वंश का परिचय गुरु-वंश के साथ ही साथ अखरावट तथा पदमावत में दिया है। पीर या मुरशिद का अर्थ केवल दीक्षा-गुरु होता है, उस्ताद नहीं। हमारी समझ मे जायसी ने इस भेद पर ध्यान रखकर ही 'पीर' शब्द का प्रयोग किया है। हिंदी का गुरु शब्द अधिक व्यापक है। उससे दीक्षा तथा शिक्षा—दोनों गुरुओं का बोध होता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जायसी का दीक्षा-

पीर और गुरु का भेद

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३३१।

गुरु कौन था। जायसी के इस समय तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं। पदमावत तथा अखरावट से हिंदी-संसार परिचित है। 'आखिरी कलाम' का पता संभवतः उसे अब तक नहीं है। यहाँ पर हमारा कर्त्तव्य है कि हम उक्त ग्रंथों के आधार पर जायसी के दीक्षा-गुरु का निश्चय करें; और देखें कि जायसी के पीर के विषय में जो मत प्रचलित हैं वे कहाँ तक साधु हैं।

ग्रियर्सन साहब[१] का मत है कि जायसी के पीर अथवा दीक्षा-गुरु शेख मुहीउद्दीन थे। जायसी ने सैयद अशरफ जहाँगीर का नाम केवल प्राचीन गुरुजन के नाते लिया है।

जायसी के पीर

आप अन्यत्र[२] यह भी कहते हैं कि एक प्रवाद की दृष्टि से शेख मुहीउद्दीन विद्या-गुरु तथा सैयद अशरफ मंत्र गुरु थे। आप शेख मुहीउद्दीन को उनका पीर किन कारणों से मानते हैं यह आप ही जानें। हम तो यही कहेंगे कि यह भी आपका एक प्रमाद ही है। आप न तो प्रचलित बातों पर ध्यान देते हैं और न जायसी के कथन पर। जायसी स्वयं पदमावत[३] में अपने पीर का नाम सैयद अशरफ बतलाते हैं और उनका बखान भी मुक्त कंठ से करते हैं। आपका कथन यह है—

"सैयद अशरफ पीर पियारा। जेहि मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा ॥
लेसा हिएँ प्रेम कर दीया। उठी जोति, भा निरमल हीया ॥
मारग हुँत अँधियार जो सूझा। भा अँजोर, सब जाना बूझा ॥
खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहित-धरम लीन्ह कै चेला ॥
जहाँगीर वै चिस्ती निहकलंक जस चाँद।
वै मखदूम जगत के हौं ओहि घर कै बाँद ॥"

---

(१) The Padumavati, Calcutta P. I.
(२) The Padumavati, Calcutta (P. II. note)
(३) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ८।

अखरावट[1] में जायसी ने अपनी पीर-परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"कही सरीअत चिश्ती पीरू। उधरित अशरफ औ जहँगीरू॥
तेहि कै नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद-जल जिउ न डेराई॥
....
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़ूकी॥
ढूँढ़ि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महँ जोती॥"

आखिरी कलाम[2] में जायसी ने इस बात को इतना स्पष्ट कर दिया है कि उसमें मीन-मेष की जगह नहीं। आप कहते हैं—

"मानिक यक पायउँ उजियारा। सैयद अशरफ पीर पियारा॥
जहाँगीर चिश्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक विधि धरा॥
....
तिन घर हौं मुरीद सो पीरू। सँवरत बिनु गुन लावै तीरू॥
कर गहि धरम पंथ दिखरायउ। गा भुलाय तेहि मारग लायउ॥"

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि जायसी चिश्ती-वंश के सैयद अशरफ जहाँगीर के मुरीद थे। 'घर' से तात्पर्य वंश, खांदान या सिलसिले से है।

जायसी और मुबारकशाह का संबंध

जो लोग जायसी को मुबारकशाह बोदले का मुरीद कहते हैं, वे भारी भूल करते हैं। इस भ्रम का एक प्रधान कारण यह है कि लोग इतिहास पर उचित ध्यान नहीं देते। नकी[3] महो-

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३५३—३५४।

(२) आखिरी कलाम, पृष्ठ १०।

(३) सैयद शाह मौलाना अली नकी अशरफ साहब अशरफ वंश के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। आपने फारसी में 'बसरायफ अशरफिय व कवायद अहमदिय' नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में मलिक मुहम्मद जायसी के संबंध में पृष्ठ ३२ से ३६ तक कई पुस्तकों के आधार पर एक निबंध लिखा गया है। उसमें तथा जायस में मुबारकशाह ही मलिक के पीर प्रसिद्ध हैं; पर मुबारकशाह की निधन-तिथि सन् ९७४ हि० दी गई है। क्यूम अशरफ

दय ने भी यही भूल की है। मुहम्मद मुबारकशाह बोदले के विषय में पदमावत से एक स्थल[1] पर जायसी ने इस प्रकार लिखा है—

"सेख मुहम्मद पूनो करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
दुश्रौ अचल ध्रुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिन्हहुँ उपराहीं॥"

जिसका कारण यह है कि जायसी अपने पीरवंश का पूरा परिचय देना चाहते हैं। हम यह नहीं कहते कि जायसी को मुहम्मद मुबारकशाह बोदले से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली। हमारे कहने का तो सीधा सादा अर्थ यह है कि जायसी ने दीक्षा सैयद अशरफ साहब से ही ली, उनके निधन होने पर शेख हाजी और उनके उपरांत शेख मुबारक से ज्ञान अर्जित करना उन्होंने अपना धर्म समझा। यही इस प्रशंसा का रहस्य है। जो लोग यह जानते हैं कि शेख मुबारक बोदले की निधन-तिथि सन् ९७४ हि० यानी जायसी से २५ वर्ष बाद है, वे हमारे मत से सहमत होंगे। इसमें संदेह नहीं कि जायसी ने पदमावत में जो परंपरा दी है वह अधिक स्पष्ट नहीं है। उसके स्पष्टीकरण के लिये अखरावट, विशेषकर आखिरी कलाम, की शरण वांछनीय है। अखरावट में भी जायसी ने पीर और गुरु के झगड़े को स्पष्ट नहीं किया है। इस विषय में आखिरी कलाम ही प्रमाण है। उसमें आपको केवल सैयद जहाँगीर अशरफ का ही नाम मिलेगा। वस्तुतः अशरफ जहाँगीर ही जायसी के पीर अथवा दीक्षा-गुरु थे। स्मरण रहे कि मुहम्मद मुबारकशाह बोदले का नाम केवल पदमावत में आया है।

साहब ने उक्त पुस्तक से जायसी का जीवन-वृत्त नकल कर हमें दिया, जो हमारे पास है।

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ८।

हमने यह भली भाँति देख लिया कि जायसी के दीक्षा-गुरु सैयद जहाँगीर अशरफ थे। अब हमको यह विचारना चाहिए कि जायसी के शिक्षा-गुरु अथवा उस्ताद कौन थे। इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डालने के पहले ही हम यह अपना परम धर्म समझते हैं कि हम इस बात को स्पष्ट रूप से कह दें कि जायसी "मधुकर सरिस संत गुणग्राही" जीव थे। उन्होंने अपनी मधुकरी वृत्ति से जो मधु-संचय किया है उसका विश्लेषण हमारा काम नहीं है। हमको तो यहाँ पर केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि जायसी ने अपने ग्रंथों में किनको गुरु के रूप में स्वीकार किया है। जायसी ने पदमावत[1] में अपने गुरुजनों का परिचय इस प्रकार दिया है—

जायसी के शिक्षा-गुरु

"गुरु मेहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहिं का खेवा॥
अगुवा भयउ शेख बुरहानू। पंथ लाइ मोहिं दीन्ह गियानू॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरू। दीन दुनी रोशन सुरखुरू॥
सैयद मुहमद कै वै चेला। सिद्ध-पुरुष-संगम जेहि खेला॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिए मेरइ जहँ सैय्यद राजे॥
ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी॥
वै सुगुरु हौं चेला, निति बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखै पायउँ, दरस गोसाईं केर॥"

हमारी धारणा है कि पदमावत के उक्त पद्यों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। ग्रियर्सन साहब ने जायसी की जो गुरु-परंपरा दी है तथा शुक्लजी[2] ने जिसका अनुसरण किया है वह इस प्रकार है—

जायसी की गुरु-परंपरा

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ८-९।

(२) जायसी-ग्रंथावली, भूमिका पृष्ठ ८।

शुक्लजी का इस परंपरा के विषय में यह कथन है,—"अपनी गुरु-परंपरा का वर्णन जायसी ने 'पदमावत' और 'अखरावट' दोनों

---

(१) जायसी ने आपका नाम सैयद राजे ('लिए मेरइ जहँ सैय्यद राजे') लिखा है। ग्रियर्सन साहब ने न जाने किस आधार पर इनको राजी लिख दिया है, जिसका अनुसरण हिंदी में किया गया है। वस्तुतः इनका नाम सैयद हामिदशाह राजे था। अकबालहुसेन मानिकपुरी ने यही लिखा भी है।

में किया है। पर यह परंपरा मुहीउद्दीन से लेकर सैयद राजी हामिदशाह तक तो उपर्युक्त परंपरा के अनुसार ठीक ठीक चलती है पर उसके आगे वह शेख कुतुब आलम की ओर नहीं जाती है। कवि ने मुहीउद्दीन से लेकर सैयद राजी तक की परंपरा जिस स्थल पर कही है उसके पहले ही सैयद अशरफ, शेख हाजी और उनके दो पुत्रों (शेख मुबारक और शेख कमाल) के नाम लिए हैं जो शेख अलाउल हक के दूसरे शिष्य की परंपरा कही जाती है।" संक्षिप्त पदमावत[1] की भूमिका में यह परंपरा इस प्रकार दी गई है—
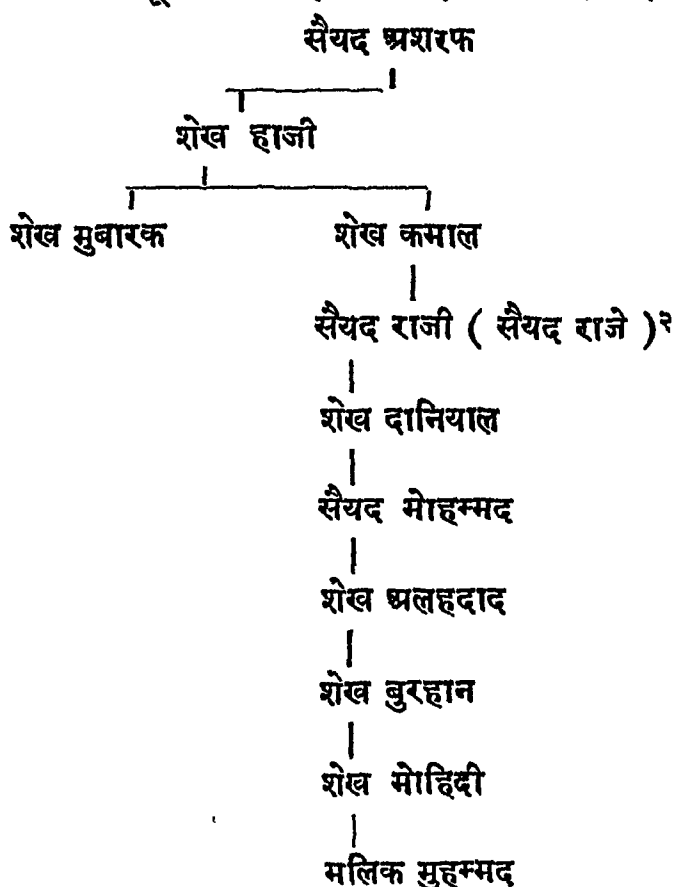
(१) संक्षिप्त पदमावत, पृष्ठ ७।

(२) देखिए पृष्ठ ४०८ की टिप्पणी (१)।

और कहा गया है—"मुसलमानों में प्रचलित गुरु-परंपरा के अनुसार जायसी की दी हुई परंपरा में अंतर पड़ता है। उनके अनुसार सैयद राजे शेख कुतुब आलम और शेख हशामुद्दीन के पश्चात् हुए हैं। शेख आलम और सैयद अशरफ शेख अलाउल हक के चेले थे।" वस्तुतः यह परंपरा पदमावत के आधार पर रची गई है। जायसी ने पदमावत में नामों का जो क्रम दिया है और ग्रियर्सन साहब ने उसको जिस रूप में समझा है उसी के अनुसार यह परंपरा भी बनी है। अंतर केवल यह है कि इस परंपरा में दोनों का मेल कर दिया गया है। हमारी दृष्टि में यह परंपरा और भी अनिष्ट है। हम कह ही चुके हैं कि जायसी मुबारकशाह से पहले ही मर चुके थे। यही नहीं, शेख कमाल के बाद जितने लोग आए हैं उनमें एक भी ऐसा कदाचित् ही मिले जो शेख कमाल से नया हो। इस परंपरा के विषय में अधिक विवेचन न कर, उसके संबंध में हम यही कहना अलम् समझते हैं कि यह सर्वथा अशुद्ध है, किसी विचार का परिणाम नहीं। रही शुक्लजी तथा ग्रियर्सन साहब द्वारा दी गई परंपरा; उसकी समीक्षा शुक्लजी ने स्वय ही संक्षेप में कर दी है। हम उसको भी जायसी की गुरु-परंपरा समझने में असमर्थ हैं। अपने कथन के पुष्टीकरण मे हम कुछ प्रमाण देना उचित समझते हैं।

अपने मत का पुष्टीकरण

अखरावट में जायसी ने चिश्ती का नाम केवल इस दृष्टि से लिया है कि वे ही उस वंश के प्रवर्तक हैं। उनके उपरांत जायसी ने अन्य किसी का नाम न लेकर तुरंत ही सैयद जहाँगीर अशरफ का नाम इस कारण लिया है कि जायसी उनके मुरीद हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जायसी अपने को चिश्ती पंथ के जहाँगीर अशरफ का मुरीद सिद्ध करते हैं। पदमावत में वे केवल अपने पीर की प्रशंसा तथा उनके वंश के अन्य लोगों का बखान करते हैं। यदि उनको अपनी गुरु-

परंपरा अभीष्ट होती तो आदि-प्रवर्त्तक से आरंभ करते। बीच में यदि किसी व्यक्ति को चुनते तो निजामुद्दीन औलिया को; क्योंकि जलालुद्दीन चिश्ती के बाद वे ही इस योग्य थे। जायसी ने तो केवल अपने पीर का स्मरण किया है जो जायस की गद्दी के अधिष्ठाता थे। प्रश्न उठ सकता है कि फिर उनको अन्य गुरुजनों के नाम लेने की क्या आवश्यकता थी। उत्तर में हमारा नम्र निवेदन है कि जायसी अपनी प्रस्तावना में उन बुजुर्गों का ऋण स्वीकार करते हैं जिनके प्रसाद से उनमें उक्त ग्रंथ रचने की क्षमता प्राप्त हो सकी। जायसी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—"ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ प्रेम कबि बरनी[1] ॥" अतः जायस के अतिरिक्त जो मानिकपुर तथा अन्य स्थल के गुरुजनों का वे विवरण देते हैं, उसका प्रधान कारण यह है कि जायसी ने उनसे ज्ञानार्जन किया था, कविता करना सीखा था। शेख बुरहान हिंदी में कविता करते थे और जायसी के लगभग २० वर्ष बाद तक जीवित रहे। हमारी दृष्टि में एक यही अटल प्रमाण पर्याप्त है कि किसी वंश-परंपरा में भविष्य का विवरण नहीं दिया जाता। सूफी भी अपने को शाह कहते हैं। उनकी परंपरा भी उसी ढँग से चलती है। जो सज्जादानशीन होता है वही शाहे-वक्त कहा जाता है, उसी का नाम चलता है। जायसी ने जो नाम दिए हैं उनमें यह बात नहीं है। हम कह ही चुके हैं कि जायस के मुबारकशाह जायसी से २५ वर्ष बाद सन् ६७४ हि० तथा कालपी के शेख बुरहान २१ वर्ष बाद सन् ६७० हि० में मरे। फिर इन लोगों के बाद के गद्दीनशीनों के विषय में जायसी कैसे लिख सकते थे? जायसी ने अपने परिचय में 'गुरु-चेला' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है; जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जायसी उक्त सज्जनों में गुरु-भाव रखते थे; और उन्हीं का सत्संग करते थे। इस विषय

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ

की छानबीन अभी हम कर रहे हैं। आशा है, फिर कभी इस पर विस्तृत विचार किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जायसी उक्त महानुभावों से ही सीखे-पढ़े थे। शुक्लजी हमारे उस कथन का अनुमोदन इस प्रकार करते हैं—"अतः जायसी ने काव्य-शैली किसी पंडित से न सीखकर किसी कवि से सीखी थी[1]।"

जायसी का अमेठी जाना

अमेठी के साथ जायसी का इतना घना संबंध सिद्ध किया गया है कि उसके प्रतिकूल कुछ कहने का साहस नहीं होता। प्रसिद्ध है कि जायसी को अमेठी के राजा ने बुलाकर सम्मान के साथ जायस में रखा। उनके आशीर्वाद से राजा का वंश चला। राजा के यहाँ वे ईश्वर की भाँति पूजित थे। जब मरे तब "रानियों के विशेष हठ करने पर राजा ने ठीक किले के सदर फाटक के सामने इनकी कब्र बनवाई[2]।" कह नहीं सकता, किंतु जहाँ तक पता चला है, इससे अधिक असत्य की प्रतिष्ठा हिंदी-साहित्य में अभी तक दूसरी नहीं है। न जाने किस आधार पर पंडित सुधाकर द्विवेदी ने उक्त बातों का प्रचार किया। हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि जायसी जायस के निवासी थे, उनके जायस के निवास से अमेठी के राजा का कुछ भी संबंध नहीं था। जायसी के अमेठी जाने का कारण यह कहा जाता है—एक दिन मलिक मुहम्मद जायसी और बंदगी मियाँ अपने पीर की सेवा में लगे थे। इन लोगों के दिल में यह बात समाई कि इनके और साथी सेवा का फल प्राप्त कर अन्यत्र धर्म-प्रचार में निमग्न हैं। चट पीर ने आज्ञा दी कि तुम दोनों अमेठी जाओ। इन लोगों ने प्रार्थना की कि दो शाह एक जगह नहीं रहते। पीर ने कहा—"हमको जो कुछ कहना था कह दिया।" पीर के कमरे में दो दरवाजे थे। एक से बंदगी

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ २११।

(२) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ३।

मियाँ पश्चिम की ओर, और दूसरे से मलिकजी पूरब की ओर चले। इस प्रकार मलिक मुहम्मद जायसी गढ़ अमेठी पहुँचे और बंदगी मियाँ अमेठी (लखनऊ) में। यही बात जायस तथा अमेठा में कुछ हेर-फेर के साथ प्रसिद्ध है। इस प्रवाद के आधार पर हम यह अच्छी तरह कह सकते हैं कि जायसी के गढ़ अमेठी जाने का प्रधान कारण राजा का आग्रह नहीं, जायसी की धर्म-भावना ही थी।

अमेठी के शासक भरद्वाजगोत्र के कछवाहे राजपूत थे। रज-भरों से उनको उक्त प्रांत मिला। सन् ७७४ हि० से ८०० हि० तक

आशीर्वाद से पुत्र

यहाँ के शासक सूदीसिंहजी थे। च्यवन[1] ऋषि के आशीर्वाद से आपके दो पुत्र उत्पन्न हुए। ऋषि की आज्ञा से इस वंश का गोत्र भरद्वाज से बंधुल हो गया। कहने का प्रयोजन यह कि अमेठी के वंश में यदि आशीर्वाद से पुत्र उत्पन्न हुए तो जायसी के जन्म के पहले। जायसी जब तक जीवित रहे तब तक उक्त वंश में आशीर्वाद से पुत्र-प्राप्ति की नौबत ही न आई। हाँ, हसनअली साहब के समय में इसकी आवश्यकता पड़ी; किंतु उनकी दुआ से उसकी पूर्ति न हो सकी। अमेठी राज के इतिहास मे जायसी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया है। अतः कल्पना अथवा अनुमान का पोषण सत्य के खून से नहीं हो सकता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि अमेठी के दरबार में जायसी का सम्मान था; वे एक सिद्ध फकीर समझे जाते थे। बस, इससे अधिक नहीं। जायस तथा अमेठी की जनता भी इससे आगे नहीं बढ़ती, हिंदी-संसार कुछ भी मानता रहे।

कहा गया है कि जायसी ने अखरावट की रचना अमेठी के राजा रामसिंह के लिये की। यदि यह ठीक है तो जायसी का प्रवेश

---

(१) तारीख राज अमेठी, न० कि०, प्रे०, लखनऊ।

कम से कम ८८८ हि० के पहले अमेठी में हो गया था; क्योंकि इसके बाद ९५६ हि० तक इस नाम का कोई शासक वहाँ नहीं हुआ। अखरावट के—"साठ बरस जो लपई झपई[1]" के ६० वर्ष से यदि जायसी की अवस्था ध्वनित समझें तो यह किसी प्रकार ठीक कहा जा सकता है। किंतु अखरावट की रचना का जो कारण बताया जाता है वह विलक्षण है। कहा जाता है कि कृष्ण जन्माष्टमी को राजा पूजन में मग्न थे। मलिक मुहम्मद साहब फाटक पर पहुँचे। द्वारपालों ने कहा—"आप मुसलमान हैं पूजा में नहीं जा सकते।" मलिक साहब ने कहा—"राजा साहब से कहो, परसाद बँटवा दें। ब्राह्मणों ने समय बताने में भूल की है।" राजा साहब यह सुनकर तुरंत आए और क्षमा-याचना की। जायसी अपने स्थान पर गए और राजा के लिये अखरावट की रचना की। यदि अखरावट का विषय ज्योतिष होता तो इस दंत-कथा में किसी को आपत्ति न होती; किंतु अखरावट का विषय कुछ और ही है। अखरावट की रचना का प्रधान कारण धर्म-प्रचार मान लेने पर प्रकारांतर से यह सत्य सिद्ध हो सकता है कि जायसी ने अखरावट की रचना अमेठी के राजा के लिये ही की।

राजा रामसिंह का अखरावट से संबंध

अखरावट में एक स्थल पर जायसी ने एक जुलाहे का वर्णन इस प्रकार किया है[2]—

अखरावट का जुलाहा

"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम तंतु निति ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेइ सँभारी॥
पाँच भूत माँड़ी गनि मलई। ओहि सौं मोर न एकौ चलई॥

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३६१।
(२) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३६५।

विधि कहँ सँवरि साज सो साजै। लेइ लेइ नावँ कूँच सौं माँजै॥
मन मुर्री देइ सब अँग मोरै। तन सो विनै दोउ कर जोरै॥
सूत सूत सो कया मँजाई। सीझा काम बिनत सिधि पाई॥
राउर आगे का कहै, जो सँवरै मन लाइ।
तेहि राजा नित सँवरै, पूछै धरम बोलाइ॥
तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं।
परै खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं॥"

शुक्लजी की सम्मति में उक्त जुलाहे का निर्देश कबीर की ओर ही है। 'अखरावट का रचना-काल' नामक लेख में हमने भी यही प्रतिपादित किया था। इधर लाला सीतारामजी[1] ने इसकी साधुता पर संदेह करते हुए यहाँ तक कहा है कि जुलाहे का तात्पर्य कबीर से कदापि नहीं है। यह शब्द प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। लालाजी को यह उद्भाव संभवतः विचारदासजा से मिला है, जो जुलाहे को सदा प्रतीक मानते हैं। हमारे विचार में, किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिये इसमें संदेह करने की सामग्री कुछ भी नहीं है, यह ठीक है कि जायसी कबीर को एक सामान्य जुलाहा नहीं समझते। उनके विचार में कबीर पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष के जुलाहा हैं। यही नहीं, उक्त दोहे तथा सोरठे में कुछ इस बात का भी संकेत है कि किस प्रकार उनका आदर-सत्कार तथा ताड़न राज-दरबारों में होता था। उनको बुलाकर राजा धर्म की पूछ-ताछ करता था और उनसे सहमत न होने पर आँख दिखाता था। निदान, उक्त जुलाहे से जायसी का आशय कबीर ही से है, जिसका प्रभाव जायसी पर पड़ा और जिसको ग्रियर्सन साहब के साथ ही साथ स्वयं लाला साहब भी स्वीकार करते हैं।

---

(१) Alld. Il. Studies, Vol. VI, Part I, p. 336

जायसी के निधन के विषय में बहुत कुछ कहा जाता है। जो लोग करामात में विश्वास करते हैं, उनका कहना है कि मलिक साहब ने एक दिन अमेठी के राजा से, जब वे उनके पास गए थे, कह दिया था कि मेरी मृत्यु आपके साथ के एक बहेलिये के हाथ से है। राजा साहब ने उस बहेलिये को आज्ञा दे दी कि वह कभी उनके राज्य में न आए। संयोगवश एक दिन रात में वह अपने घर आया। उसे जान पड़ा कि कोई शेर जंगल में घूम रहा है। आत्मरक्षा के लिये उसने गोली चला दी। निकट जाकर देखा तो शेर के वेश में मलिक साहब थे। राजा शब्द सुनकर जायसी के पास दौड़ा गया; और अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी। मलिक साहब ने कहा—"जो होना था हो गया, मेरी समाधि यहीं बनवा देना" इसी बात को लोग अनेक रूप से कहते हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि जायसी जिस समय जिक्र असदी (ذکراسدی) में लगे थे, उनके शब्द को सुनकर, एक व्यक्ति ने, जिसकी गाय को शेर एक दिन पहले खा चुका था, और जो शेर का शिकार करने गया था, शेर[1] का शब्द समझकर गोली मार दी। जायसी उससे आहत हो गिर पड़े। उसी स्थल पर उनकी समाधि दे दी गई। हमको यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि जायसी के जीवन-वृत्त के विवेचन में बड़ी ही असावधानी से अब तक काम लिया

जायसी का निधन

---

(१) महाराजकुमार श्री रणंजयसिंहजी का कहना है कि उक्त वन में कभी शेर नहीं रहते थे। हाँ, बनैले शूकरों का शिकार वहाँ बराबर से होता आया है। परंतु अमेठी (रायपुर) के कुछ अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों, विशेषकर शेख बहाउद्दीन अहमद का कथन है कि उक्त वन में पहले शेर रहते थे। स्थल-विशेष का नाम 'बघेड़ी' पड़ने का कारण भी यही कहते हैं। कुछ भी हो, भ्रम किसी भी दशा में संभव था। जायसी की मृत्यु गोली के आघात से हुई, यह सभी को मान्य है। यही हमारा अभीष्ट भी है।

गया है। जायसी की समाधि का कोट से कुछ भी संबंध नहीं है। आधुनिक कोट रामनगर से भी जायसी की कब्र पाँच फर्लांग के लगभग दूर है। उस समय का गढ़ रायपुर में देवीपाटन के पास था, जो जायसी की कब्र से लगभग तीन मील दूर है। जायसी की कब्र पर प्रति बृहस्पतिवार को एक छोटा सा मेला होता है। आस-पास के मुसलमान इस पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। राजा की ओर से अब कुछ विशेष प्रबंध नहीं है। पहले चिराग-बत्ती के लिये कुछ मिलता था। जायसी की कब्र के पास ही दूधाहारी शाह की कब्र है जो जायसी की सेवा में रहते थे और केवल दूध ही पर जीवन व्यतीत करते थे। जायसी सदा मुरीद रहे, कभी मुरशिद नहीं बने। उनके चेला-चपाटी कभी न थे। वे अमेठी के घने जंगल में रहते थे और वहीं स्वर्गवासी भी हुए। जायस त्यागने का एक मुख्य कारण उनकी एकांतप्रियता भी कही जा सकती है। काजी सैयद नसीरुद्दीन जायसी ने, जिनको नवाब शुजाउद्दौला ने काजी की सनद दी थी, अपनी याददाश्त में, मलिक मुहम्मद जायसी की निधन-तिथि चार रज्जब सन् ९४९ हि० लिखी है, जो सर्वथा संगत जान पड़ती है।

उपसंहार

मलिक मुहम्मद जायसी के जीवन के संबंध में अब तक जो कुछ विवेचन किया गया है उसके आधार पर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसका सिंहावलोकन कर लेना परम आवश्यक है। मलिक मुहम्मद जायसी का वास्तविक नाम मुहम्मद था। मलिक उनके वंश की उपाधि थी। जायस के निवासी होने के कारण वे जायसी कहलाए। जायस में वे मलिक के नाम से ख्यात हैं। जायस के कंचाना मुहल्ले मे सन् ८२० हि० में एक सामान्य परिस्थिति के माता-पिता के घर उत्पन्न हुए। आप जन्म से ही कुरूप थे। रोग-विशेष,

संभवत: अर्द्धांग, से आपका स्वरूप और भी भ्रष्ट हो गया। लोग इनके रूप-रंग पर हँसा करते थे। माता-पिता ने किसी विशेष ढंग की शिक्षा का प्रबंध नहीं किया। आपका विवाह जायस में ही हुआ था। आपकी कई संतानें थीं जिनका स्वर्गवास अल्पकाल ही में हो गया था। आपके भाई का वंश अभी चल रहा है। सैयद अशरफ़ जहाँगीर आपके पीर थे। शेख मोहिदी, शेख बुरहान आदि सज्जनों से आपने शिक्षा ग्रहण की थी। विरक्त होने के पहले खेती से जीवन-निर्वाह करते थे। परमात्मा का दर्शन पाने के बाद, फ़कीर होकर इधर-उधर प्रेम की पीर का प्रचार करने लगे। राज-दरबारों में भी कभी कभी जाते थे। अंत में एकांतप्रियता के कारण अमेठी के घने वन में रहने लगे। आपके साथ एक और फकीर दूधाहारी शाह रहते थे। उसी वन में अचानक, श्रवण कुमार की भाँति, आप शांत हुए। आपने कभी किसी को चेला नहीं किया, आजीवन मुरीद रहे। आप योग-साधना करते थे और परमात्मा के स्मरण में ही सन् ९४९ हि० मे आपका स्वर्गवास गोली लगने से हो गया। इस प्रकार जायसी की आयु ११९ वर्ष (९४९-८३०), हम लोगों के गणनानुसार ११५ या ११६ वर्ष ठहरती है, जिसको कुछ लोग असत्य समझ सकते हैं। परंतु जिन लोगों ने पदमावत का अध्ययन विचार-पूर्वक किया है उनको यह सर्वथा संगत प्रतीत होगी। जायसी बुढ़ापे से ऊबकर यहाँ तक कह चुके थे—"बूढ़ी आयु होहु तुम केइ अस दीन्ह असीस"। जायसी की १४ पुस्तकें कही जाती हैं। कुछ के नाम ये हैं—पोस्तीनामा, कहार-नामा, मुराईनामा, सेखरावट, चंपावत, अखरावट, पदमावत और आखिरी कलाम। कहा जाता है कि इन्होंने 'नमाज' पर भी एक पुस्तक लिखी थी, जो एक बुढ़िया को याद थी। खेद है कि वह बुढ़िया अब नहीं है। उक्त पुस्तकों में पदमावत तथा अखरावट

का संपादन पंडित रामचंद्रजी शुक्क ने जायसी-ग्रंथावली के नाम से किया है। आखिरी कलाम हमारे पास है। शेष पुस्तकों का पता अभी नहीं चला। यह हिंदी का सौभाग्य है कि जायसी से दीन के पक्के पाबंद मुसलमान ने उसको अपनाया और उसकी श्री-वृद्धि की। जायसी को इसका फल मिला—"सब रुपवंतइ पाउँ गहि मुख जोहहिं कै चाउ।" हिंदी-साहित्य ही नहीं, मानव-जाति भी मलिक मुहम्मद जायसी की चिर ऋणी है। इनके शील और साहित्य की समीक्षा अन्यत्र ही संभव है। यहाँ पर इतना ही पर्याप्त है कि आप एक आदर्श व्यक्ति थे। आपका काव्य भी आदर्श है।

---

(१८) राजा उदयादित्य और भोजराज का संबंध

[लेखक—श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन]

परमार राजा 'उदयादित्य' और भोज की परस्पर रिश्तेदारी के प्रमाणित करने के विषय में मि० डी० सी० गांगुली और श्री के० पी० जायसवालजी के बीच एक सुंदर वाद छिड़ गया है। 'माडर्न रिव्यू' के जुलाईवाले अंक में मि० गांगुली की दलीलें प्रकाशित हुई थीं। उन दलीलों का उत्तर देते हुए जायसवाल महोदय ने जो छोटा सा किंतु महत्त्वपूर्ण निबंध लिखा है उसे, पाठकों की जानकारी के लिये, हम यहाँ उपस्थित करते हैं। हमारी दृष्टि में जायसवालजी के प्रमाण गांगुली बाबू की दलीलों का स्पष्ट खंडन करते हैं—

'माडर्न रिव्यू' के जुलाईवाले अंक के पृष्ठ ६७ में मिस्टर डी० सी० गांगुली इस प्रकार दलील पेश करते हैं—

(अ) वह उदयादित्य—जिसने उदयपुर मंदिर बनवाया—"राजा भोज का चचेरा भाई" था [माडर्न रिव्यू के जूनवाले अंक में जिस प्रकार मैंने वर्णन किया है।]

(आ) उदयादित्य परमार-वंश (Paramara Family) की किसी विशिष्ट शाखा से संबद्ध थे। [J. A. S. B. की जिल्द ६वीं, पृष्ठ ५४६ के अनुसार।]

(इ) उदयादित्य ने मालवा के राजा की हैसियत से वास्तव मे कभी मंदिर नहीं बनवाया, क्योंकि १०५६ में तो मालवा का राजा जयसिंह था।

(ई) मालवा के सिंहासन पर आसीन होने के बहुत पहले ही उदयादित्य ने मंदिर बनवाया था।

(ड) मिस्टर जायसवाल का यह कहना कि "उदयपुर मंदिर भोज की स्मृति में एवं अपने कुटुंब को अपनी सेवाएँ, मंदिर बनाकर अपना नाम चलाने के लिये, समर्पित करने के वास्ते उदयादित्य ने यह (मंदिर) बनाया" समीचीन नहीं।

मिस्टर गांगुली का (उपर्युक्त) सारा कथन बिलकुल गलत है, उनका खास उद्देश्य यह है कि उदयादित्य उस परमारवंश के नहीं थे जिसका राजा भोज था लेकिन वे उसकी किसी विशेष शाखा के थे। साथ ही उनका यह भी मतलब है कि पैतृक नहीं बल्कि अपनी विजय के कारण ही उदयादित्य मालवा के राजा हुए। ("...कि गुर्जर कर्ण को हराकर उदयादित्य ने मालवा का राज्य पाया।")

इसमें शक नहीं कि हमारे पास जो परमारों के दस्तावेज हैं उससे उपर्युक्त कथन नितांत विरुद्ध जाते हैं। उन दस्तावेजों के अनुसार भोज के बाद ही उदयादित्य का खास परमार शाखा में ही वर्णन है। उदाहरण के लिये कीलहॉर्न (Keilhorn) की सूची देखिए—

नं० ८२—"सिंधुराज, भोज, उदयादित्य और नरवर्मा।"

नं० १६५—"भोज, उदयादित्य और उसका पुत्र नरवर्मा, उसका लड़का यशोवर्मा, उसका पुत्र अजवर्मा, उसका लड़का विध्यवर्मा, उसका लड़का सुभटवर्मा और उसका लड़का अर्जुन [१]।"

नं० ७६—"वैरीसिंह, उसका पुत्र सियक, उसका पुत्र मुंजराज, उसका छोटा भाई सिंधुराज, उसका पुत्र भोज, उसका बंधु उदयादित्य, उसका लड़का लक्ष्मणदेव, उसका भाई नरवर्मा।"

---

(१) 'उदयादित्य के तीन पुत्र थे—१—लक्ष्मणदेव, २—नरवर्मदेव, और ३—जगदेव। एक कन्या भी थी।'—'धार' का इतिहास।

उदयादित्य की प्रत्येक "वंश की सनद" में, जो वंशवृक्ष के तौर पर लिखी गई है, उसे सिंधुराज और भोज की पंक्ति में ही रखा गया है और उसे भोज के बाद का तत्काल-राजा माना गया है। डाक्टर बूहलर ने, जिनके बारे में शिलालेखों आदि के पढ़ने की पर्याप्त प्रसिद्धि फैली हुई है, भिन्न भिन्न साधनों द्वारा, एक वंशवृक्ष तैयार किया है उसमें भी राजा भोज के बाद ही उदयादित्य लिखा गया है (एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १, पृष्ठ २२३)।

इसमें सन्देह नहीं कि मि० गांगुली ने बहुत सी पुस्तकों को देखा है किंतु वे बूहलर, कीलहॉर्न एवं अन्य साधारण शिलालेखों को देखना भूल गए। वंश के शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों के होते हुए यह कहना या दलील करना कि उदयादित्य सिंधुराज एवं भोज के प्रधान वंश का नहीं है और न वह पैतृक हकदार की तरह गद्दी पर बैठा, नितांत असंभव है।

मिस्टर गांगुली ने एक ऐसे शिलालेख (Inscription) पर विश्वास किया है जिसे प्रत्येक विद्वान् ने अग्राह्य माना है। वे अपने इस कथन—कि उदयादित्य किसी भिन्न शाखा का था—के लिये पाठकों को J. A. S. B. जिल्द ९ वीं के पृष्ठ ५४९ को पढ़ने का अनुरोध करते हैं। गांगुली महाशय के इस "प्रमाण ग्रंथ" के बारे में डाक्टर कीलहॉर्न की सम्मति से डा० हॉल कहते हैं—

"वह मनुष्य, जिसके बारे में यह उच्छृंखल अभागा लिख रहा है, मालवा के उदयादित्य का वंशज था चाहे यह बात हो या न हो, किंतु यह स्पष्ट हो गया कि यह लेखक (९ वीं जिल्दवाला) उदयादित्य के वंश के बारे में कुछ नहीं जानता"—E. J. जिल्द ५ वीं, सूची पृष्ठ ११।

यही राय उस नवीं जिल्द के बारे में डाक्टर बूहलर की भी है (E. I. i 233) कि वह शिलालेख उदयादित्य के समय से ४५० वर्ष बाद का है।

इस निर्विवाद एवं सुप्रसिद्ध बात को कि "उदयादित्य धार के परमारों की प्रधान वंशावली में ही था"। ध्यान में रखते हुए हमें यह देखना है कि उसका भोज के साथ क्या रिश्ता था। मि० गांगुली ने जिस प्रकार उसे भोज का चचेरा भाई बताया यह ठीक नहीं। उदयपुर में मैंने स्थानीय प्राचीन संवादों मे लोगों के मुँह से सुना है कि उदयादित्य भोज का पुत्र और गद्दी का हकदार था। वही उसके बाद गद्दी पर बैठा। यही बात कई साल पूर्व जनरल कनिंघम ने भी उदयपुर मे जाकर सुनी थी। अपनी "रिपोर्ट" के दसवें भाग के पृष्ठ ६५ में वे लिखते हैं—"उदयपुर या उदयपुर का शहर भिलसा (भेलसा) से ३४ मील उत्तर में है। इसका यह नाम सुप्रसिद्ध धार के भोज के लड़के उदयादित्य परमारवंशीय के कारण ही पड़ा और बहुत करके यही उसका स्थापित करनेवाला भी हो।"

डाक्टर बूहलर, जो परमार-वंशवृक्ष (एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द i. 223) के सर्व-प्रथम पुन. निर्माणकर्ता थे, चार अन्य साधनों के सदुपयोग एवं उदयपुर-प्रशस्ति और नागपुर-प्रशस्ति के आधार पर उदयादित्य की वंशावली इस प्रकार लिखते हैं—

उपर्युक्त वंशवृक्ष से सिद्ध हो गया कि बूहलर भी उदयादित्य को भोज का लड़का ही मानता है। ऐसे मामलों मे प्राचीन संवादों (चली आई हुई बातों) को तब तक नहीं अस्वीकार किया जा सकता जब तक कि वे गलत साबित न कर दिए जायँ। सभी न्याव-

हारिक कार्य के लिये उदयादित्य भोज का लड़का माना गया है क्योंकि इसी ने भोज के शत्रुओं को परास्त किया और भोज की प्रतिष्ठा एवं उसका नाम रखा और अपने वंश के स्वातंत्र्य को स्थिर रखा। यह दंतकथा मैं इसी लिये मानता हूँ और मैंने लिखा भी है कि उदयादित्य ही भोज के बाद गद्दी पर बैठा; वही उसका लड़का एवं उत्तराधिकारी था। हैदराबाद रियासत से जो १९३१ में लेख निकला एवं प्रकाशित हुआ (A. R. A. D. Nizam's Dominions for 1337 F—1927-28) वह पहले मेरे हाथ में नहीं आया। उससे भोज और उदयादित्य का ठीक संबंध प्रकट हो जाता है। इससे हमारी सारी शंका साफ हो जाती है। वास्तव में नागपुर के लेख में भी "संबंध" साफ साफ दिया हुआ है लेकिन उसमें कथित "बंधु" शब्द का अर्थ विद्वानों ने "रिश्तेदार" लिया है। उसका वास्तविक अर्थ भाई ही होता है। २२वीं पंक्ति कविता ३२ में वर्णित है कि "जब भोज इंद्र का साथी हो गया और समस्त साम्राज्य पादाक्रांत हो गया तब उसका बंधु उदयादित्य राजा हुआ। राजाओं से ग्रस्त वसुधा को अपने हाथ में कर और कर्णा से राज्य लेकर—जो करनाटाज (Karnatas) के साथ मिल गया था—अगाध समुद्र की तरह सुशोभित हुआ। राजकुमार ने उस समय सचमुच पवित्र वाराह (Holy Boar) की तरह कार्य संपादन किया था।"

यह सब संदर्भ उदयादित्य को गद्दी पर बैठानेवाले राजा भोज का है और इसी अर्थ मे डाक्टर बूहलर और कीलहॉर्न ने इसे लिया है। लेकिन मिस्टर गांगुली इसे भोज के अज्ञात अनाम किसी पुत्र का संदर्भ मानते हैं, जो असंभव है। संस्कृत व्याकरण को एक तरफ पटकते हुए भी यह विचार हमें इस निर्णय पर पहुँचा देगा कि उदयादित्य भोज का नहीं वरन् उसके अनाम पुत्र का भाई था अर्थात् उदयादित्य भी भोज का ही लड़का हुआ। इससे नवीन

खोज में प्राप्त जैनद शिलालेख से, जो उदयादित्य के समकालीन सेनापति का है, यह पता चलता है कि जगद्देव, उदयादित्य का लड़का और पिता की ओर से भोज का भतीजा था। इन दोनों ने राजा की पदवी पाई (वसुधाधिपत्यप्राप्तप्रतिष्ठौ)। भोज जो जगद्देव का पितृव्य (यस्य देवः पितृव्यः स च भोजराजः) होता है, उदयादित्य का भाई होना ही चाहिए। इस हिसाब से नागपुर-प्रशस्ति में भोज का "बंधु" लिखा जाना बिलकुल ठीक है। नागपुर के लेखों में इस वंश के सभी राजाओं के ठीक ठीक संबंध दिए गए हैं इसलिये यहाँ बंधु शब्द से ठीक ठीक रिश्तेदारीवाला साफ साफ अर्थ प्रकट हो ही जाता है। इस प्रकार उदयादित्य राजा भोज का लघुबंधु हुआ जो भोज के बाद अवतरित हुआ।

उदयपुर-प्रशस्ति से उपेंद्रराज से लगाकर भोज तक का कौटुंबिक इतिवृत्त मालूम होता है। उदयादित्य, जो भोज के बाद गद्दी पर बैठा, १६-२० तक की कविताएँ भोज के लिये लिखता है। यह वर्णन सबसे लंबा है जिसमें उसके कार्य—सैनिक एवं सामाजिक, साहित्यिक एवं धार्मिक सभी—वर्णित हैं। और २१-२२ तक की कविता में उसने बताया है कि भोज के शत्रुओं से उसने राज्य किस तरह बचाया। मुख्य उद्देश्य तो भोज की महत्ता और उसकी सेवाएँ हैं और यह कार्य इतने उत्साह से किया गया कि इसमें बूहलर को भी चिढ़ हो गई। (उदयपुर-प्रशस्ति के सिंधुराज के लड़के भोज के बयान तो बहुत ही अजीब हैं) यदि उदयादित्य भोज की कीर्ति को अमर नहीं बनाना चाहता था तो फिर उसने इतना लिख क्यों डाला?

भोज के लड़के जयसिंह की तख्तनशीनी के वर्णन को लीजिए। हमारे पास उस संबंध के दो लेख हैं जिनमें १११२ से १११६ संवत् तक लिखा है (१०५५ से १०५९ ईस्वी), मंदिर के प्रारंभ

के लिये गर्दे साहब ने १०५९ ईस्वी दी है और काम खतम होने की तारीख १०८० ई० दी है। वास्तव में उदयादित्य १०८०-८१ ईस्वी तक राज्य कर रहा था (E. I. iii 48)। भोज वास्तव में १०५५ ई० में या इसके पहले मरा। यद्यपि जयसिंह ने १०५५ से १०५९ ई० तक राज्य किया तो भी इससे वह बात अग्राह्य नहीं कही जा सकती कि उदयादित्य ने, मालवा के राजा की हैसियत से मंदिर-निर्माण का कार्य १०५९ ई० में आरंभ किया। मि० गांगुली का यह ख्याल कि "मालवा के राजा की हैसियत से उदयादित्य ने कभी उदयपुर का मंदिर बनवाया ही नहीं, क्योंकि १०५९ में जयसिंह वहाँ का राजा था" बिलकुल अग्राह्य है। १०५९ ई० वाला साल तो जयसिंह के राज्य का अंत और उदयादित्य के राज्य का आरंभ दोनों को बता रहा है।

यद्यपि हमें अब इससे आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं तथापि इतना तो और कहना हो ठीक है कि जयसिंह का राज्य केवल नाम-मात्र का राज्य था और वह देश के थोड़े ही हिस्से पर था। जयसिंह, जैनद लेखों के अनुसार (Arch. Annual Report of Hydera-bad, 1337 F., page 24), उदयादित्य के आधिपत्य मे ही अरबूदा नामक स्थान पर लड़ा था, ठीक वैसे ही जैसे उदयादित्य का लड़का जगद्देव दक्षिण में लड़ा था। उदयादित्य के कुटुंब ने कभी जयसिंह को भोज का उत्तराधिकारी या स्वतंत्र राजा नहीं माना। अंत में कीलहॉर्न लिखते हैं कि वह उदयादित्य ही था "जिसने भोजदेव की मृत्यु के समय की संकटावस्था का अंत किया"। जय-सिंह आधिपत्य की दशा को ही स्वीकार कर सका था।

मैं गांगुली महाशय को इसलिये धन्यवाद देता हूँ कि उनके इस सवाल के उठाने से जैनद लेख के प्रकाश में हमें भोज और उदयादित्य के वास्तविक संबंध को निश्चित करने का मौका मिल

गया। हाँ, यह ठीक है कि इससे मेरे उदयपुरवाले मंदिर पर लिखे गए पर्चों पर कोई असर न हुआ, न संशोधन ही करना पड़ा।

टि०—उदयेश्वर मंदिर के पूरा बन जाने की तारीख लेखानुसार संवत् ११३७ वैशाख सुदी सप्तमी लिखी है—"श्रीमदुदयेश्वरदेवस्य ध्वजारोहः संपूर्णः। मंगलं महाश्रीः।"

मंदिरारंभ और पताका-आरोहण का यह लेख मंदिर के पूर्वीय भाग के एक पत्थर पर खुदा है। इसमें संदेह नहीं कि मि० गांगुली इस लेख से अनभिज्ञ थे, क्योंकि इसे कीलहोर्न भी भूल गए हैं (Indian Antiquary XX 83)।—के० पी० जायसवाल।

(१९) जटमल की गोरा बादल की बात

क्या वह गद्य में है ?

[लेखक—श्री नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०, विशारद, बीकानेर]

जटमल की **गोरा-बादल की बात** हिंदी-साहित्य की एक सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण रचना है। हिंदी भाषा और हिंदी-साहित्य के इतिहास में उसका विशेष महत्त्व है जिसका कारण यह है कि वह खड़ी बोली में लिखी गई है। इससे पूर्व की खड़ी बोली की रचनाएँ, विशेषकर हिंदू लेखकों द्वारा लिखित, बहुत ही कम मिलती हैं। इतनी बड़ी पहली रचना तो संभवतया यही है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना बड़ी सुंदर है। वीररस की ऐसी फड़कती हुई रचना हिंदी में शायद ही दूसरी हो।

गोरा-बादल की बात का एक और महत्त्व हिंदी-साहित्य के इतिहास में है। वह यह कि हिंदी में प्राचीन काल की जो एकाध गद्य-रचनाएँ मिलती हैं उनमें यह भी एक है। **गोकुलनाथ** की **वैष्णवन की वारताओं** को छोड़कर यह उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, और संभवतः सबसे बड़ी भी, है। खड़ी बोली के गद्य की तो एक ही रचना ऐसी है जो इससे पूर्व की है और वह है **गंगा भाट** की **चंद छंद बरनन की महिमा**।

हिंदी के विद्वानों में अभी तक ऐसा ही प्रसिद्ध है। उनकी धारणा यही है कि जटमल ने अपनी यह कृति गद्य मे लिखी थी। हिंदी की हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की अधीनता और देख-रेख में होती है। उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित होती है। सन् १९०१ की रिपोर्ट में इस कृति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

No. 48—गोरा बादल की कथा—Prose and verse. Substance—country-made paper. Leaves—43. Size—$9\frac{1}{2}'' \times 7\frac{1}{2}''$. Lines 30 to page. Extent—1000 slokas. Appearance—Ordinary. Complete. Incorrect. Character—Devanagari. Place of deposit—Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

The story of Ratanasena and Padmavati, and, connected with it, that of Gora and Badal, who animated by the noble sentiment of patriotism and honour, sacrificed themselves (?) for the cause of their chief, their queen, and their country. Written in Samvat 1680 (A. D. 1923).

Beginning—श्रीरामजी प्रसन्न होये। श्रीगनेसाये नमः। लक्ष्मीकांत। हे वात कीसा चित्तौड़ के गोरा बादल हुआ है जीनकी वारता की कीताब हींदवी में बनाकर तयार करी है ॥

सुक सपेत दायेक सकल सींद बुद सहेत गनेस।
वीगण वीजरला वीनसो वेलो तुज परणमेस ॥ १ ॥
जगमल वाणी सरस रस कहता सरस वर ंद।
चह्वाण कुल उवधारो हुवा जु वाचावंद[1] ॥ २ ॥

End—गोरे की आवरत आवेसा वचन सुनकर आपने षावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सीवपुर में जाके वाहा दोनों मेले हुवे ॥ १४४ ॥ गोराबादल की कथा गुरू के वस सरस्वती की महरबानगी से पुरन भई तीस वास्ते गुरुकू व सरस्वतीकू नमस-

(१) पहले तो प्रति का पाठ ही शुद्ध नहीं फिर यहँ अवतरण लेनेवाले ने तो कमाल किया है। यही कारण है कि इस अवतरण का, विशेषतः इन पद्यों का, पाठ अत्यंत भ्रष्ट है। —लेखक।

कार करता हु ॥ १४५ ॥ ये कथा सोलसे आसी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रसे ह वीरारस व सीनगार रस हे सो कथा ॥ १४६ ॥ मोरछडो नाव गाव का रहनेवाला कवेसर जगहा उस गाव के लोग भोहोत सुकी हे, घर घर में आनंद होता है। कोई घर में फकीर दीपता नहीं ॥ १४७ ॥ उस जग आली पान वाबा राज करता हे मसीह वाका लड़का हे सो सब पटानों में सरदार है जयेसे तारों में चंद्रमा आयेसा वो हे ॥ १४८ ॥ धरमसी नाव का वेतलीन का वेटा जटमल नाव कवेसर ने ये कथा सवल गाँव में पुरण करी ॥ १४९ ॥

हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत मिश्रबंधु अपने मिश्रबंधुविनोद में लिखते हैं—

२५५ जटमल—इस कवि ने संवत् १६८० में गोरा-बादल की कथा गद्य में कही और इस भाषा में खड़ी बोली का प्राधान्य है। अतः खड़ी बोली प्रधान गद्य का, गंगा भाट के पीछे, सबसे प्रथम रचयिता यही जटमल कवि है। (खोज १-६०१)[1]

मिश्रबंधुविनोद में भी इस कथा का एक उद्धरण दिया गया है जो इस प्रकार है—

गोरा-बादल की कथा गुरू के वस सरस्वती के महरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलसे आसी के साल में फागुन सुदो पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस हे वीरारस व सीनगार रस हे सो कथा। मोरछड़ो नाव गाव का रहनेवाला कवेसर जगहा उस गाँव के लोग भोहोत सुको हे घर घर मे आनंद होता है कोई घर में फकीर दीपता नहीं। धरमसी नाव का वेतलीन का वेटा जटमल नाव कवेसर ने ये कथा सवल गाँव में पूरन करी[1]।

(१) मिश्रबंधुविनोद, भाग १, पृष्ठ ३७९।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में इस संबंध में इस प्रकार लिखते हैं—

संवत् १६८० में मेवाड़ के रहनेवाले जटमल ने गोरा-बादल की जो कथा लिखी थी वह कुछ राजस्थानीपन लिए खड़ी बोली में थी। भाषा का नमूना देखिए[1]।

इसके आगे मिश्रबंधु-विनोद में दिया हुआ उक्त अवतरण कुछ पाठ-भेद के साथ दिया गया है (अंतिम वाक्य छोड़ दिया गया है।)

स्वनामधन्य रायबहादुर आचार्य श्यामसुंदरदास अपने हिंदी-भाषा और साहित्य नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

इसी प्रकार १६८० मे जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य मे लिखी है, जिसकी बानगी यह है— "चित्तौड़गढ़ के गोरा-बादल हुआ है जिनकी वीरता की किताब हिंदवी बनाकर तयार करी है[2]।"

इस प्रकार हिंदी के विद्वान् इसे गद्य-रचना ही मानते आए हैं और अब भी मानते हैं। पिछले कई वर्षों में हमें राजस्थान की हस्त-लिखित पुस्तकों के कतिपय भंडारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन भंडारों में जटमल-रचित गोरा-बादल की बात की अनेक प्रतियाँ हमें देखने को मिलीं पर देखने पर ज्ञात हुआ कि वे सबकी सब पद्य में हैं। हमने इस विषय में विशेष ध्यान रखा कि संभव है कि गद्य में लिखित वार्त्ता भी कहीं मिल जाय। परंतु हमारे बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसी कोई प्रति देखने में नहीं आई। पद्यात्मक प्रतियों में लेखक का नाम जटमल लिखा है और उसका परिचय भी ठीक वैसा ही है जैसा कि ऊपर के उद्धरणों में है। (केवल गद्य की जगह पद्यों में दिया हुआ है।) हमने हिंदी के अनेक

---

(१) हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४७२।

(२) हिंदी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १२० (पृष्ठ ४१० भी)।

विद्वानों से पूछ-ताछ भी की पर सबसे यही उत्तर मिला कि जटमल की गद्य-वार्त्ता उनके देखने में नहीं आई। हिंदी-साहित्य के इतिहासों एवं अन्य पुस्तकों में जो अवतरण दिए गए हैं उन सबका आधार नागरीप्रचारिणी सभा की खोज की रिपोर्ट ही है—हम इसी परिणाम पर पहुँचे। केवल रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी ने हमें सूचित किया कि उन्होंने जटमल का ग्रंथ गद्य में लिखा हुआ देखा है। उन्होंने यह भी सूचित किया कि उक्त गद्य-वार्त्ता बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित है (जैसा कि रिपोर्ट में भी लिखा है)। इस पर हमने नागरीप्रचारिणी-सभा के द्वारा उक्त सोसाइटी को इस वार्त्ता की प्रतिलिपि भिजवाने के लिये लिखवाया पर सोसाइटी की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला।

अब हम इसी निश्चय पर पहुँचे कि जटमल की गोरा-बादल की बात नामक वार्त्ता पद्य में ही लिखी गई थी न कि गद्य में। हमारे इस निश्चय के आधार नीचे लिखे अनुसार थे—

(क) जटमल की उक्त वार्त्ता की अनेक हस्त-लिखित प्रतियाँ हमारे देखने में आईं पर वे सबकी सब, विना किसी अपवाद के, पद्य में थीं। उन सबमें रचयिता का नाम स्पष्टतया जटमल लिखा हुआ था और उसका परिचय भी ठीक वैसा ही था जैसा कि सभा की खोज की रिपोर्टवाले अवतरण में।

(ख) बहुत खोज करने पर भी किसी गद्यात्मक प्रति का पता नहीं चला। एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में गद्यात्मक प्रति का होना बताया जाता था पर बारबार पत्र लिखने पर भी सोसाइटी चुप्पी साधे बैठी थी।

(ग) सोसाइटीवाली प्रति के अंतिम भाग का जो अवतरण खोज की रिपोर्ट में लिया गया है उसके बीच बीच में,

दुहरी पाइयों के बीच में, अंक दिए हुए हैं जिससे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह अवतरण कतिपय पद्यों का अनुवाद है जिनकी संख्या इन अंकों द्वारा सूचित होती है।

(घ) हमने अनुमान किया कि सोसाइटीवाली प्रति में मूल वार्त्ता और साथ ही साथ उसका अनुवाद, दोनों दिए हुए हैं। सभा की रिपोर्ट भी उसे गद्य-पद्यात्मक (Prose and Verse) बतलाती है जिससे उसमें पद्यों का होना तो निःसंदिग्ध है।

(ङ) अन्य प्राप्त प्रतियों से, जो सभी पद्यात्मक हैं, पद्यात्मक वार्त्ता का रचयिता जटमल ठहरता है अतः इस प्रति का केवल पद्यात्मक अंश ही जटमल का है और गद्यानुवाद किसी ने पीछे से जोड़ दिया है। यदि पद्यवार्त्ता के साथ साथ गद्य भी जटमल का होता तो वह सब प्रतियों में, नहीं तो कम से कम एकाध और प्रति में तो अवश्य, पाया जाता। पर इस गद्य का अस्तित्व सोसाइटीवाली प्रति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

(च) उक्त खोज की रिपोर्ट में आरंभ का जो अवतरण दिया गया है वह भी पीछे का जोड़ा हुआ जान पड़ा। इसमें पहले मंगलाचरणवाला जो दोहा है वह हेमरतन[1] नामक जैन कवि की गोरा-बादल-चउपई नामक ग्रंथ का पहला दूहा है। बाद में किसी ने भूल से, या अन्य किसी कारण से, उसे जटमल की वार्त्ता में जोड़ दिया है। इसके आगे जो दोहा है वह भी बाद में जोड़ा हुआ जान पड़ा क्योंकि उसमें जटमल की प्रशंसा की गई है। हमारी उपलब्ध प्रतियों में से (घ) प्रति में, जो स्पष्टतः बहुत

---

(१) यह कवि जटमल से पहले महाराणा प्रताप के समय में हुआ था। प्रताप के सुप्रसिद्ध मंत्री भामाशाह का अनुज ताराचंद इसका आश्रयदाता था। उसने अपना यह ग्रंथ संवत् १६४५ में, जटमल की वार्त्ता के २५ वर्ष पहले, समाप्त किया था।

बाद की है, प्रारंभ में चार दोहे ऐसे पाए जाते हैं जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलते (इनमें से दो दोहे वही हैं जो खोज की रिपोर्ट के अवतरण में हैं)। वहाँ भी ये बाद में जोड़े हुए ही जान पड़े क्योंकि इन दूहों के बाद फिर मंगलाचरण का दोहा आता है (जिससे अन्य प्रतियों की कथा आरंभ होती है)। कोई भी कवि एक बार मंगलाचरण करके कथा का आरंभ करने के बाद दुबारा मंगलाचरण नहीं करेगा।

गत श्रावण मास में मुझे बीकानेर राज्य के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर श्रीयुत ठाकुर रामसिंहजी एम० ए० के साथ कलकत्ते जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वहाँ हमने सोसाइटीवाली प्रति को देखकर अंतिम निर्णय कर लेने का निश्चय किया। सोसाइटी में जाकर हमने कार्य-कर्त्ताओं से पूछ-ताछ की पर उस प्रति का कहीं पता न चला। सूचियों में भी वह दर्ज की हुई नहीं पाई गई। निराश होकर हमने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत पूर्णचंद्रजी नाहर बी० ए०, बी० एल० की सहायता ली। पता चला कि सोसाइटी के पुस्तकालय में कुछ हस्तलिखित ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनकी सूची बनी हुई नहीं है। बड़ी कठिनता से, रिपोर्ट में उल्लिखित, गोरा-बादल की बात की प्रति को प्राप्त करने में हम समर्थ हुए[1]। देखने पर ज्ञात हुआ कि हमारा अनुमान सर्वांश में ठीक था। यह प्रति कोई १००-१२५ वर्ष की पुरानी है और एटकिनसन नामक साहब के पास इंदौर

---

(१) इस संबंध में सोसाइटी के संस्कृत-विभाग के पंडित महोदय विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं। आपकी कृपा से ही अनेक पुस्तकों के ढेर में इस प्रति का पता मिलना संभव हुआ। अब यह ग्रंथ सूची के रजि-स्टर में दर्ज हो चुका है और इसका नंबर H/34 है।

राज्य के रेज़िडेंट ई० वेलेजली एस्कायर द्वारा तैयार करवाकर भेजी गई थी[१]।

इस प्रति का प्रत्येक पृष्ठ दो स्तंभों में विभक्त है। पहले अर्थात् बाएँ स्तंभ में जटमल की वार्त्ता का मूल पद्य-भाग दिया हुआ है और दूसरे, दाहिने, स्तंभ में इस वार्त्ता का गद्यानुवाद। पद्यभाग थोड़े ही पृष्ठों मे समाप्त हो गया है पर गद्यानुवाद लंबा होने के कारण आगे और कई पृष्ठों तक चला गया है। इन पृष्ठों में पद्योंवाला बायाँ स्तंभ कोरा छूटा हुआ है। गद्यानुवाद मे पद्य की संख्या के अनुसार अंक भी दिए हुए हैं। आरंभ में मूल वार्त्ता के पहले कुछ गद्य-पद्यात्मक अंश प्रस्तावना-रूप मे है जिसका कम से कम गद्य-भाग अनुवादक की कृति जान पड़ता है। सभा की खोज की रिपोर्ट के लिये अवतरण लेनेवाले ने आरंभ और अंत के जो अंश लिए हैं वे दोनों ही जटमल की रचना नहीं—आरंभ का अंश तो अनुवादक की ओर से जोड़ा हुआ प्रस्तावना-भाग है और अंतवाला अंश गद्यानुवाद का है।

इस प्रकार अवतरण लेनेवाले महाशय की भूल के कारण हिंदी-संसार में यह भ्रांति फैल गई कि जटमल सत्रहवीं शताब्दी का खड़ी बोली का गद्य-लेखक है और उसकी गोरा-बादल की बात खड़ी बोली की प्रारंभिक गद्य-रचनाओं में है।

---

(१) Sent by E. Wellesely, Esquire, Resident at Indore to Mr. Atkinson. Received June 2nd, 1824. Legend of Padmini, wife of Ranah of Chitore, including attack on Chitorgarh by Alauddin, on her account and the actions of Gora and Badal in her defence. The original version is in a mixed Hindooee provincial dialect as given in one column. The other column is a version in ordinary Hindooee.

यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जटमल की मूल वार्त्ता पद्य में थी। पर इस गद्यानुवाद का कर्त्ता कौन है? जटमल इसका कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि जटमल होता, तो पद्यवार्त्ता की प्रतियों के साथ यह गद्य भी मिलता (सबमें नहीं तो कुछ में तो अवश्य); अथवा गद्यात्मक वार्त्ता की प्रतियाँ भी यत्र-तत्र मिलतीं। पर सिवा सोसाइटी की प्रति के गद्यात्मक वार्त्ता की कोई प्रति नहीं मिलती। अतः यही संभव जान पड़ता है कि जिसने यह प्रति तैयार करवाई है, गद्यानुवाद भी उसी का तैयार कराया हुआ है। अतः यह सत्रहवीं शताब्दी का न होकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है। ऊपर लिखा जा चुका है कि यह प्रति इंदौर राज्य के रेजिडेंट ने एटकिनसन साहब के लिये तैयार करवाई थी। प्रति के अंत में जो अँगरेजी लेख है (यह पीछे उद्धृत किया जा चुका है) उसमे स्पष्ट लिखा है कि मूल कथा केवल पहले स्तंभ में दी गई है और दूसरे स्तंभ में साधारण (तत्कालीन बोलचाल की) हिंदुई में उसका रूपांतर दिया गया है। बहुत संभव है कि उक्त साहब के समझने के लिये यह गद्यात्मक रूपांतर किसी स्थानीय पंडित द्वारा तैयार करवाया गया हो। फिर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यदि कोई प्राचीन लेखक यह अनुवाद करता तो अपना नाम और परिचय भी आरंभ या अंत में देता, पर इस प्रति में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

सारांश

(१) जटमल ने अपनी गोरा-बादलरी बात नामक वार्त्ता खड़ी बोली के गद्य में नहीं किंतु खड़ी बोली-मिश्रित राजस्थानी के पद्य में लिखी थी।

(२) अतः उक्त वार्त्ता खड़ी बोली की प्रारंभिक गद्य-रचनाओं में परिगणित नहीं की जा सकती और हिंदी-साहित्य के इतिहास-कारों का जटमल को गद्य-लेखक मानना भूल है।

(३) एशियाटिक सोसाइटी की प्रति का गद्यानुवाद, और खोज की रिपोर्ट में उद्धृत गद्यांश, जटमल की रचना नहीं है और न वह सत्रहवीं शताब्दी के खड़ी बोली-गद्य का नमूना कहा जा सकता है।

(४) यह गद्यानुवाद संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है।

इतना होने पर भी इस वार्त्ता का मूल्य कम नहीं हो जाता। खड़ी बोली के इतिहास में और खड़ी बोली की रचनाओं में इसका स्थान सदा महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। हिंदी में जो दो-चार गिनी-चुनी वीररस की रचनाएँ हैं उनमें इसका स्थान बहुत ऊँचा होगा इसमे भी कोई संदेह नहीं। यह एक प्रकार का लोक-गीत (Ballad) है जिसमें कृत्रिमता और साहित्यिक आडंबर का प्रायः अभाव है।

(२०) शाहनामा में भारत की चर्चा

[लेखक—श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, प्रयाग]

शाहनामा फारसी भाषा का एक वीररस-प्रधान महाकाव्य है, जिसकी रचना ईरान के जगद्विख्यात महाकवि फिरदौसी ने ग्यारहवीं शताब्दी में की थी। यह प्रकांड ग्रंथ चार बड़े बड़े खंडों में विभाजित है, जिनमे लगभग साठ हजार बैत हैं। इसको ईरान का महाभारत कहना चाहिए, जिसमें उस देश के पुराने नरेशों का चरित, अरबों के आक्रमण तक का, बड़े ओजस्वी शब्दों में वर्णन किया गया है और जो अधिकांश वहाँ के गृहयुद्ध का वृत्तांत है।

यह सच है कि उक्त पुस्तक मे बहुत सी ऊटपटाँग बातें भी भरी हुई हैं, जिन पर विश्वास करना कठिन है, परंतु उनके साथ साथ यत्र-तत्र बहुत कुछ ऐतिहासिक तत्त्व का भी समावेश है।

पिछले दिनों हमें इसके अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, यह पुस्तक विशेषतया ईरान का ऐतिहासिक काव्य है, फिर भी बीच बीच मे प्रसंगवश कहीं कहीं हमारे देश की भी चर्चा आई है। अतः हम इस लेख में केवल उसी अंश को उद्धृत करके यह दिखलाना चाहते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से उनका मूल्य क्या है ?

(१) तीसरे खंड के पृ० ११६-१२५[1] में लिखा है कि "सिकंदर जब हिंदुस्तान पर आक्रमण करने को था तो इस देश का एक राजा, जिसका नाम कवि ने 'कैद हिंदी' लिखा है, निरंतर दस रातों तक विचित्र स्वप्न देखता रहा। उसने एक चतुर ज्ञाता से

---

(१) हमने इस लेख में नवलकिशोर प्रेस के सन् १८८४ के संस्करण के पृष्ठ का पता लिखा है। —लेखक।

उनका आशय पूछा। उसने विचार कर बतलाया कि यहाँ सिकंदर नामक एक महाप्रतापी नरेश रूम और ईरान से दल-बादल सेना लेकर आनेवाला है। तुम उससे युद्ध न करना, किंतु चार अनुपम वस्तुओं को, जो तुम्हारे पास हैं, भेंट करना। तदनुसार कैद ने सिकंदर से पत्र-व्यवहार करके वे चारों चीजें उसको भेंट कर दीं। उनमें से एक तो उसकी रूपवती कन्या थी, दूसरा उसका एक दार्शनिक विद्वान्, तीसरा एक चतुर वैद्य और चौथा एक ऐसा विलक्षण पात्र था, जिसका जल आग या धूप से गर्म नहीं होता था और न पीने से कम होता था। इसके पश्चात् सिकंदर ने पंजाब पर चढ़ाई की। पहले वहाँ के राजा 'फोर' को धमकी देते हुए लिखा कि यदि अपना कुशल चाहते हो तो हार मानकर तुरंत चले आओ नहीं तो तुम्हारा अनिष्ट होगा। फोर ने इसका बड़ा कठोर उत्तर दिया। उसने लिखा कि तुम मुझे इस अपमान के साथ बुलाते हो। तुमको लज्जा नहीं आती। दारा को जीतकर और कैद से मिलकर तुम्हारे हौसले बहुत बढ़ गए हैं। यदि तुम लड़ना चाहते हो तो यहाँ भी विशाल सेना तैयार है। यह सुनकर सिकंदर ने फोर से घोर युद्ध किया, जिसमें अंत में फोर वीरगति को प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् सिकंदर ने उसके लड़के को, जिसका नाम 'स्वर्ग' था, गद्दी पर बैठाया और स्वयं जलमार्ग से अरब की ओर चला गया।"

यह तो हुआ शाहनामा का वर्णन। इतिहासों में लिखा है कि "जब सिकंदर यहाँ आया था तो उस समय पंजाब अनेक छोटी छोटी रियासतों में विभक्त था, जिनमें परस्पर कलह और द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। अतः तक्षशिला के राजा 'आंभी' ने, जिसका नाम फिरदौसी ने 'कैद हिंदी' लिखा है, सिकंदर का खूब आगत-स्वागत किया और उसकी सेना को रसद-पानी पहुँचाया। इतना ही नहीं, किंतु उसने पाँच हजार सैनिकों से भी सिकंदर को

सहायता दी, जिनको लेकर उसने पंजाब पर चढ़ाई की। वहाँ के राजा 'पोरस' अथवा 'पुरु'—या शाहनामा के अनुसार 'फोर'—ने बड़ी वीरता से सिकंदर के साथ युद्ध किया, परंतु संयोगवश रणक्षेत्र में हाथी के बिगड़ जाने से उसकी हार हो गई और वह अत्यंत घायल हो गया। सिकंदर पोरस का भीमकाय शरीर तथा उसकी निर्भीकता देखकर मुग्ध हो गया और उसका राज्य उसको लौटा दिया[1]।"

इसमें न तो आंभी के कन्यादान की चर्चा है और न पोरस के मारे जाने की, जैसा कि फिरदौसी ने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लिखा है।

(२) शाहनामा के इसी खंड के पृष्ठ १३४ में वर्णित है कि "सिकंदर अपने तत्त्वदर्शी विद्वानों को साथ लेकर ब्राह्मणों के देश में गया, जो पर्वत पर एकांतवास करते थे और फल तथा घास के बीज खाते थे और पत्ते पहनते थे। सिकंदर ने उनसे कई प्रश्न किए, जिनके उचित उत्तर पाकर वह संतुष्ट होकर चला गया।"

इसका कुछ संकेत इतिहास के इस वर्णन में पाया जाता है, जिसमें लिखा है कि "सिकंदर पंजाब से लौटते हुए पाटला पहुँचा जो 'बहमनाबाद' के निकट था[2]।"

संभव है, फिरदौसी ने इसी बहमनाबाद को "ब्राह्मणों का देश" लिखा हो।

(३) इसी खंड के पृष्ठ १४५ में है कि "सिकंदर ने चीन से लौटकर सिंधवालों से युद्ध किया, जिसमें सिंधियों की हार हो गई थी।"

इसकी पुष्टि इतिहास के इस वर्णन से होती है कि "सिकंदर जब जल-मार्ग द्वारा ईरान को लौट रहा था तो सिंध के ऊपरी भाग की

---

(१) देखो Early History of India by Vincent A. Smith, Chapter III.

(२) Abid, Chapter IV.

कई जातियों से उसका घोर युद्ध हुआ, जिनमें मालव जातिवालों का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है, परंतु अंत में वे सब पराजित हो गए[१]।"

(४) फिर आगे पृष्ठ १६८ में लिखा है कि "ईरान का बादशाह 'अर्दे शेर' अपने घरेलू झगड़ों से बहुत खिन्न हो रहा था। उसने कैद हिंदी के पास बहुत से घोड़े, अशर्फियाँ तथा चीन के रेशमी वस्त्र इत्यादि भेंट के रूप मे भेजे और पूछा कि इस झंझट से मेरा कब छुटकारा होगा? कैद ने ज्योतिष से विचार कर उसका उत्तर कहला भेजा।"

(५) इसके आगे पृष्ठ २४८-२६० में लिखा है कि "एक बार ईरान का बादशाह 'बहराम' दूत का वेश धारण करके स्वयं अपना पत्र लेकर कन्नौज के राजा "शिंगल" के पास आया। शिंगल ने उसकी वीरता की अनेक प्रकार से परीक्षा ली, जिसमें वह पूरा उतरा। इस पर शिंगल ने अपनी कन्या बहराम को ब्याह दी और उससे कहा कि अब तुम ईरान मत जाओ, परंतु बहराम कुछ दिन पीछे अपनी स्त्री सहित छिपकर भाग गया। उसका कुछ दूर तक पीछा करके शिंगल लौट आया। इसके पीछे शिंगल और बहराम से ईरान में अन्य सात बादशाहों के साथ फिर भेंट हुई। इसके पश्चात् शिंगल कन्नौज का राज्य अपनी लड़की के नाम लिखकर हिंदुस्तान लौट आया। फिर उसके पीछे बहराम ने शिंगल के द्वारा यहाँ से कुछ गवैयों को ईरान बुलवाया।"

इतिहास से इस घटना का कोई साक्ष्य नहीं मिलता, किंतु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब स्वयं फिरदौसी के कालगणनानुसार बहराम चौथी शताब्दी के अंत में हुआ था—जब कि कन्नौज का कोई राज्य ही न था, किंतु वह मगध साम्राज्य के अंतर्गत था—तब फिर वहाँ के किसी राजा से बहराम का समागम क्योंकर संभव

---

(१) Early History of India by V. A. Smith, Chapter IV.

है? जान पड़ता है, फिरदौसी ने इस वार्ता को भी किसी से यों ही सुनकर लिख दिया है, जैसा कि अपनी पुस्तक के अंत में उसने स्वयं लिखा है—

"सर आमद कुनूँ बरमन ईं दास्ताँ।
कि बशुनीदम अज़ गुफ्तये पास्ताँ[१] ॥"

अर्थात् अब यह कथा समाप्त हुई, जैसी कि मैंने पुराने लोगों से सुनी थी।

सर जॉन मालकम ने ईरान के इतिहास में लिखा है कि "वहाँ के इतिहासकारों ने बहराम के विजय की, जो उसने हिंदुस्तान में की थी, एक बड़ी लंबी-चौड़ी कहानी लिखी है। वे लोग लिखते हैं कि बहराम भेस बदलकर भारत में गया था, इत्यादि, पर यह ऐसी (प्रामाणिक) बात नहीं है कि इसकी चर्चा की जाय[१]।"

फिर कुछ आगे चलकर मालकम साहब लिखते हैं कि "बहराम जंगलों में घूमने-फिरने से बहुत प्रसन्न रहता था और इसी स्वभाव के कारण वह कहानी गढ़ी गई है जिसमें उसके हिंदुस्तान जाने की चर्चा है[२]।"

(६) चौथे खंड के पृष्ठ ५२-६४ में है कि "कन्नौज के राजा ने नौशेरवाँ के पास शतरंज भेजा। वहाँ के लोग यह न समझ पाए कि वह कैसे खेला जाय। अतः उन्होंने बादशाह से एक सप्ताह की मुहलत ली, परंतु फिर भी वे नहीं समझ सके। तब नौशेरवाँ ने अपने दर्बार के प्रधान मंत्री तथा प्रसिद्ध विद्वान् बुजुर्चे मिहर को

---

(१) देखो History of Persia by Sir Johan Malcolm—Vol. I, P. 93.

(२) Ibid, P. 95.

बुलाया। उसने कई दिन सोच-विचार करने के पश्चात् समझा। फिर उसके उत्तर में उसने नर्द (चौपड़) का आविष्कार किया और उसको कन्नौज के राजा के पास भेजा। यहाँवाले उसको नहीं समझ सके। बुजुर्च मिहर ईरान से साथ आया था। अंत में उसने खेलकर समझाया।"

इसी प्रसंग में यह भी लिखा है कि भारत में शतरंज का आविष्कार कैसे हुआ था। लिखा है कि "हिंदुस्तान में जमहूर नाम का एक महाप्रतापी राजा था। संदल उसकी राजधानी थी। उसकी रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम "गो" रखा गया। इसके पीछे शीघ्र ही पिता बीमार होकर मर गया और लड़के को उसकी माता के सिपुर्द कर गया। राजा के एक भाई का नाम माय था जो दंबर में रहता था। वह वहाँ से बुलाया गया और जमहूर की गद्दी पर बैठकर गो का पालन-पोषण करने लगा। फिर माय के यहाँ एक लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम तलहंद रखा गया। जब वह दो वर्ष का हुआ और गो सात वर्ष का, तब माय भी बीमार होकर मर गया। इस पर लोगों ने जमहूर की रानी को गद्दी पर बैठाया। जब वे दोनों लड़के युवा हुए तो उन दोनों में राज्य के लिये युद्ध हुआ, जिसमें अंत में तलहंद की मृत्यु हो गई। रानी ने गो को बुलाकर बहुत फटकारा कि तूने राज्य के लिये भाई को मार डाला। गो ने कहा—मैंने नहीं मारा; वह स्वयं मर गया है। रानी ने पूछा—कैसे? तब गो ने एक विद्वान् को बुलाया, उसने शतरंज की बिसात बिछाकर दोनों ओर के मुहरों को क्रमशः लड़ाना आरंभ किया और अंत में दिखलाया कि देखो इस प्रकार से तलहंद की मात हो गई थी।"

इसमें और तो कुछ पता नहीं चलता, पर "गो" का जो नाम आया है वह कहीं राजपूताने का "गोह" तो नहीं है, जिसकी चर्चा

टॉड राजस्थान में इस प्रकार आई है कि "मेवाड़ की पुरानी राजधानी वल्लभीपुर को नौशेरवाँ की सेना ने नष्ट कर डाला था, जिसमें वहाँ के अंतिम नरेश महाराज शीलादित्य मारे गए। उनकी गर्भवती रानी पुष्पावती भागकर पर्वत की एक गुहा में जा छिपी। वहाँ उसके एक पुत्र जनमा जिसका नाम "गोह" रखा गया। उसी के वंशज गहिलोत राजपूत कहलाते हैं।"

(७) इसी खंड के पृष्ठ ६४ से भारत के संबंध में एक और वर्णन आरंभ होता है। लिखा है कि "नौशेरवाँ के दर्बार में "बुजुर्च" नाम का एक धुरंधर विद्वान् था। एक दिन उसने बादशाह से कहा कि मैंने हिंदुओं की पुस्तकों मे पढ़ा है कि उनके देश के पर्वतों में एक ऐसी दिव्य बूटी होती है जिसे यदि मृतक के मुँह में डाल दिया जाय तो वह बोलने लगता है। इसलिये आज्ञा हो तो मैं जाकर वहाँ से ले आऊँ। नौशेरवाँ ने कहा—यह असंभव है; फिर भी परीक्षा करनी चाहिए। फिर उस बूटी के लिये एक पत्र हिंदुस्तान के राजा के नाम लिखकर बुजुर्च को दिया और उसके साथ बहुत सा धन और तीन सौ ऊँटों पर अनेक प्रकार की भेंटें भेजीं, जिनमें बहुत से बहुमूल्य रत्न आदि थे। राजा ने बुजुर्च को अपने विद्वानों के साथ पर्वत पर एक ब्राह्मण के पास भेजा, जो अनेक प्रकार की बूटियों का ज्ञाता था। वहाँ बहुत सी बूटियों का, जो चमकती थीं, मुर्दों पर परीक्षण किया गया, पर कोई जीवित न हुआ। तब बुजुर्च ने निराश होकर एक वृद्ध से जाकर पूछा। उसने हँसकर कहा—भोले जिज्ञासु ! यह एक प्रकार का अलंकार है। वास्तव में बूटी विद्वान् और पर्वत बुद्धि है। मूर्ख मृतक के समान हैं जो बुद्धि से मानो जीवित हो जाता है। हमारे राजा के पास कलेला-दमना (करटक-दमनक) नामक एक पुस्तक है, जो बुद्धि का भंडार है। तुम उसी को लेने का उद्योग करो। बुजुर्च यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और

राजा के पास जाकर उस पुस्तक के लिये याचना की। राजा ने मंत्री को बुलाकर आज्ञा दी। तदनुसार वह बुजुर्चे को पुस्तक पढ़कर सुनाने लगा, जिसको बुजुर्चे लिखता जाता था। समाप्त होने पर वह प्रतिलिपि लेकर नौशेरवाँ के दर्बार में लौट गया और सब हाल कह सुनाया। बादशाह ने उसका बहुत आदर-सम्मान किया और उसे बहुत कुछ इनाम-इकराम तथा खिलअत दी, परंतु बुजुर्चे ने सिवा खिलअत के और कुछ न लिया और यह प्रार्थना की कि मुझसे यह पुस्तक फिर से लिखाई जाय और उसके आरंभ में मेरा नाम स्मारक के रूप में अंकित कर दिया जाय। बादशाह ने कहा—एवमस्तु।

"तदनुसार बुजुर्चे मिहिर ने पहलवी मे उस पुस्तक का संपादन किया, जो ईरान की प्राचीन भाषा थी। तत्पश्चात् बगदाद के खलीफा मामूँ ने उसका ताज़ी (अरबी) में अनुवाद कराया। फिर ईरान के शाह नसर के समय मे रोदकी नामक कवि ने उसे फारसी में पद्य-बद्ध किया।"

बस, शाहनामा में भारत के संबंध में इतना ही वर्णन मिलता है। कहना न होगा कि उपर्युक्त ग्रंथरत्न हमारे यहाँ का "पंचतंत्र" है जिसका उस समय विदेश में इतना आदर हुआ था।

अब यह पुस्तक फारसी में "अनवार सुहेली" के नाम से मिलती है, जिसकी कहानियाँ पंचतंत्र तथा हितोपदेश के आधार पर लिखी हुई मालूम होती हैं।

अब शाहनामा के विषय में भारत-संबंधी दो एक बातें और लिखकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

शाहनामा मे भारत के जिन स्थानों के नाम आए हैं उनमें संदल, जंदल और दंबर अज्ञात हैं, शेष कन्नौज, सिंध, कश्मीर और मुलतान के नाम मिलते हैं।

नदियों में केवल "सिंधु" का नाम मिलता है। गंगा के नाम का स्पष्टतया उल्लेख नहीं है, पर एक जगह "दरियाय कन्नौज"[1] आया है, जिसका तात्पर्य गंगा के सिवा दूसरा नहीं हो सकता।

यहाँ की तत्कालीन प्रसिद्ध वस्तुओं में रेशमी वस्त्र का यत्र-तत्र उल्लेख "देवाय हिंदो" और "हरीर हिंदी" के नाम से आया है, परंतु सबसे अधिक प्रशंसा यहाँ के "खड्ग" की "तेग हिंदी"[2] और "खंजरे हिंदुआँ"[3] के नाम से की गई है।

---

(१) دگر گفت کای نامور رای هند
ز دریای قنوج تا پیش هند

(२) ز یاقوت و الماس وز تیغ هند
همه تیغ هندی سراسر ببند

(३) ز تیر و کمان وز بر گستوان
ز کوپال وز خنجر هندوان

(२१) विक्रम संवत्

[लेखक—पं० वेणीप्रसाद शुक्ल, प्रयाग]

उत्तर भारत में विक्रम संवत् और नर्मदा नदी के दक्षिण भारत में शक संवत् का प्रचार है। ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले सम्राट् विक्रमादित्य ने उत्तर भारत में संवत्सर तथा सम्राट् शालिवाहन ने ईसवी सन् के ७८ वर्ष बाद शक संवत् चलाया। भारतवासी परंपरा से मानते आए हैं कि उज्जयिनी और पाटलिपुत्र के सम्राट् विक्रमादित्य ने विदेशी यवन शकों और विधर्मी बौद्धों तथा जैनों को जीतकर कलिकाल में अश्वमेध यज्ञ किया। इसी यज्ञ की स्मृति में संवत्सर का आरंभ है। इसी से विक्रमाब्द धार्मिक संवत् माना जाता है और उत्तर भारत के ब्राह्मण धार्मिक कार्यों में इसी संवत् का व्यवहार करते हैं।

भारतवर्ष का इतिहास लिखनेवाले योरोपियन विद्वान् संवत् की उत्पत्ति का निर्णय नहीं कर सके। ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले भारत में विक्रमादित्य नाम के किसी सम्राट् की हस्ती ही वे नहीं मानते। अभी तक अनेक विद्वानों का मत है कि "ईसा से पहली सदी में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर कण्व आदि कोई निर्बल वंश अधिकारी था। उत्तर-पश्चिम से शक म्लेच्छों की बाढ़, पंजाब के यवन राज्यों को दबाती, मध्य भारत की ओर बढ़ रही थी। इस काल में दक्षिण भारत (प्रतिष्ठान) के आंध्र सबसे प्रबल थे। इन्हीं आंध्रों की सहायता से युद्धजीवी मालवगण[1] ने, जो यवन शकों के युद्धों से थककर अपना देश दक्षिण पंजाब छोड़कर अवंति देश में बस गए थे, चंबल नदी के किनारे युद्ध में शक सेनापति

---

(१) सिकन्दर के आक्रमण-काल में पंजाब में मालव गण-तंत्र राज्य था। मालव-युद्ध में सिकन्दर घायल हो गया था, जिससे क्रुद्ध होकर यूनानियों ने मालवों का संहार कर डाला। सिकंदर के अनंतर छोटे छोटे ग्रीक राज्यों से लड़ने

नहपान को परास्त कर अपनी विजय की स्मृति मे संवत् चलाया। इसी से यह संवत् शिलालेखों में मालव संवत् लिखा मिलता है। मालव संवत् में ४०० वर्ष के अनंतर गुप्त-सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपना नाम और विरुद मिला दिया, जिससे संवत् विक्रम संवत् लिखा जाने लगा। संवत् के विषय में यही अनुमान किया गया है; किंतु अभी तक पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गए भारत के इतिहास मे विक्रम संवत् पर कोई निश्चित मत नहीं है। प्रचलित संवत् के तीन नाम शिलालेखों में मिलते हैं—कृत संवत्,[1] मालव संवत्[2] और विक्रम संवत्[3]।

लड़ते मालवगण पंजाब छोड़कर, राजपूताना होते हुए, अवंति देश में बस गए थे। जयपुर के पास ऐसी हजारों मुद्राएँ मिली हैं जिनमें ये शब्द लिखे हैं—"मालवानां जय"। पश्चिमी विद्वानों का खयाल है कि शकों पर मालवों की इसी जय से संवत् की उत्पत्ति है। (Cunnigham's A. Surnay Report, Vol. I, Page 165.)

(१) नंदसा पिलर इंसक्रिप्शन जिसमें शक्तिगुणगुरु ने अपना पष्टिरात्रि यज्ञ करना ब्राह्मी में अंकित किया है।

कृत्योर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयो (२८२)
यातेषु चतुर्षु 'कृतेषु' सौम्यैष्वासीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु।
शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्य मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य।
कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु फाल्गुणबहुलस्या पंचदश्यां
पूर्वायां (फ्लीट—गुप्त इंसक्रिप्शन, पृष्ठ २४३)

(२) मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशतसंयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु।
(ग्यारिसपुर का शिलालेख)
मालवेशगतवत्सरैः शतैः द्वादशैश्च षड्विंशपूर्वकैः
(मैनालगढ़ का शिलालेख)
पंचसु शतेषु शरदां यानेष्वेकान्नवति सहितेषु।
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु।
संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गतैः सप्तभिर्मालवेशानाम्।

(३) वसु नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य
वैशाषस्य सितायां रविवार युत द्वितीयायाम्।
(सन् ८४१ ई० धौलपुर का शिलालेख)

"संवत् के कृत, मालव और विक्रम नाम तो शिलालेखों में मिलते हैं, किंतु विक्रमादित्य के समय और इतिहास का ठीक पता नहीं लगता। जैन ग्रंथों में विक्रमादित्य की कथा विशद रूप से मिलती है। उनमें लिखा है कि मौर्य-सम्राट् अशोक के अनंतर मौर्यवंश की दो शाखाएँ हो गई थीं—पाटलिपुत्र और उज्जयिनी। अशोक के पौत्र संप्रति ने, जो जैन था, पाटलिपुत्र अपने भाई दशरथ के लिये छोड़कर उज्जयिनी को राजधानी बनाया। जैन धर्म में संप्रति की वैसी ही कीर्ति है, जैसी अशोक की बौद्धों में। संप्रति की आठवीं पीढ़ी में विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य जैनी थे और इनके पिता का नाम गर्दभिल्ल था। गर्दभिल्ल शकों के हाथ से मारे गए। शकों को जीतकर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य राज्यासन पर बैठे। इत्यादि।"

संवत् यदि जैन संवत् होता या जैनों का चलाया होता तो क्या ब्राह्मण इसे अपने धार्मिक पंचांग में स्थान देते? कदापि नहीं। बौद्ध और जैन धर्मों से ब्राह्मणों की घोर शत्रुता थी। बौद्ध और जैन धर्मों के प्राबल्य-काल को कलिकाल या कलियुग, और उन बौद्ध और जैन नरेशों को, जिनका राज्यकाल भारत के इतिहास में स्वर्णयुग माना जा रहा है, ब्राह्मणों ने पुराणों में—बड़े निंदायुक्त शब्दों में—अधार्मिक[1], अत्याचारी, म्लेच्छ और वर्णसंकर कहा है। पुराणकार कहते हैं कि जब कलि में अधर्म[2] (बौद्ध-जैन-धर्म) घोर रूप धारण करेगा, सहस्रा-

---

(१) स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥

(२) बौद्धों का वर्णन (वायुपुराण)—
अरक्षितारो हर्तारो बलिभागस्य पार्थिवाः।
युगान्ते प्रभविष्यन्ति स्वरक्षणपरायणाः॥

धिक वर्ष तक वैदिक यज्ञ-यागादि बंद रहेंगे, तब भगवान् विष्णु ब्राह्मण के घर में कल्कि नाम से २४ वाँ अवतार[1] धारण करेंगे। वे श्वेत घोड़े पर सवार होकर खड्ग से अधर्मियों और म्लेच्छों का संहार करेंगे तथा वेदों और ब्राह्मणों की रक्षा कर पृथ्वी का भार उतारेंगे। तब सहस्राधिक वर्ष से लुप्तप्राय वैदिक अश्वमेध यज्ञ भारत में होगा। इसी यज्ञ से कृतयुग आरंभ होगा। कृतयुग के आरंभ से कृत संवत् की उत्पत्ति है। संवत् का जन्म बौद्ध और जैन धर्मों पर ब्राह्मण धर्म की महान् विजय की स्मृति है।

सहस्राधिक वर्ष से लुप्तप्राय वैदिक धर्म का उद्धार, धर्मद्रोहियों का संहार और भारत के इतिहास में पौरव जनमेजय के अनंतर पहला अश्वमेध यज्ञ ये महान् घटनाएँ मौर्य-साम्राज्य के अंतिम काल मे हुई हैं, जब कि ब्राह्मणों के उभाड़ने से ब्राह्मण[2] सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने, रथयात्रा के मेले में, सेना दिखाने के बहाने, अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को मारकर, धन-रत्नों से भरे पाटलिपुत्र के विशाल संघारामों को लूटकर, बौद्धों और जैनों का, भिक्षुओं और श्रमणों का भीषण संहार किया और नगर के बाहर बौद्ध स्तूपों को तोड़कर असंख्य धनराशि निकाल

राजवृत्तिस्थिताश्चौरा राजानश्चौरशीलिनः।
शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोऽपजीविनः॥

(१) शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्कि प्रादुर्भविष्यति॥
विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेन प्रतिमद्युति।
नृपलिंगच्छदो दस्यून् कोटिशो नि हनिष्यति॥

(श्रीमद्भागवत, द्वादश स्कंध)

(२) प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेपसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यंबृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्। (हर्षचरित)

तथा लाटायन श्रौतसूत्र में अन्य आचार्यों में शुंगाचार्य भी है। अग्निरिन्द्रायेोपास्मै पवस्व वाच इति स्तोत्रीय शुंगाः। (शुङ्गाचार्याः मन्यन्ते)

ली। उसने नैव मूर्धाभिषिक्त अत्याचारी बौद्ध यवनों[1] को, जिन्होंने माध्यमिका (चित्तौड़) और साकेत (अयोध्या) को जीतकर पाटलिपुत्र को घेर लिया था, मार भगाया। बहुबल-कोषाधीश कलिंगराज जैन खारवेल को, जिन्होंने अपने मस्त हाथियों से ही गंगा पार कर मौर्यों के सुगांगप्रासाद में अपने रण-दिग्गजों[2] को बाँध दिया था, पराजित किया। अधर्म और पाषंड का नाश कर, वैदिक धर्म की पुनः स्थापना कर, कलि का अंत कर, पतंजलि[3] को पुरोहित बनाकर, पहला अश्वमेध यज्ञ किया। इसी से ब्राह्मणों ने, ब्राह्मण के भवन[4]

---

(१) अल्पप्रसादा ह्यनृताः महाक्रोधा ह्यधार्मिकाः।
भविष्यन्तीह यवनाः धर्मतः कामतोऽर्थतः॥
नैव मूर्धाभिषिक्तास्ते भविष्यन्ति नराधिपाः।
युगदोषदुराचारा भविष्यन्ति नृपास्तु ते॥
स्त्रीणां बालवधेनैव हत्वा चैव परस्परम्।
भोक्ष्यन्ति कलिशेषे तु × × × ॥ (वायुपुराण)

(२) मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हत्थी सुगंगीय पाययति मागधं च राजानं बहसति मितं पादे वंदापयति। (हस्तिगुंफ शिलालेख, प्रा० लिपिमाला)

(३) इह पुष्यमित्रं याजयामः। (पतंजलि, महाभाष्य)

(४) जनमेजय ने यज्ञ के अनंतर व्यासजी से पूछा कि अब कलि में कभी अश्वमेध यज्ञ होगा या नहीं। व्यासजी ने विचार कर कहा कि एक ब्राह्मण सेनानी काश्यप कलि में अश्वमेध यज्ञ करेगा।

उपात्तयज्ञो देवेषु ब्राह्मणेषूपपत्स्यते।
तेजसा व्याहृतं तेजस् तेजस्येवावतिष्ठते॥
औद्भिज्यो भविता कश्चित् सेनानी. काश्यपः द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति॥
तद्युगे तत् कुलीनश्च राजसूयमपि क्रतुम्।
त्वया यृत्तं कृतं चैव वाजिमेधं परंतप॥
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति।
(हरिवंश पुराण, R. P. Jayaswal, B & D R. J.)

में उत्पन्न, दो अश्वमेध[1] के कर्त्ता सेनानी काश्यप द्विज पुष्यमित्र शुंग को चौबीसवाँ अवतार माना। सेनानी के पुत्र अग्निमित्र "विदिशा" (मालव) को, मूर्धाभिषिक्त कर सम्राट् बनाकर, विक्रमादित्य विरुद देकर, कृतयुग, कृत, मालव या विक्रम संवत् का आरंभ किया।

पुराणकारों ने बौद्धों और जैनों के संहार से प्रसन्न होकर जैसे पुष्यमित्र को धर्मोद्धारक और विष्णु का अवतार माना है वैसे ही बौद्धों ने पुष्यमित्र को धर्मनाशक और महा अत्याचारी लिखा है। बौद्ध लिखते हैं कि पुष्यमित्र ने यवनों के प्रधान नगर शाकल से पाटलिपुत्र तक समग्र बौद्ध विहारों और संघारामों को लूटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बौद्ध भिक्षुओं का घोर संहार किया। जो भिक्षु मारे नहीं गए उनके पीले वस्त्र उतरवा लिए गए। इस निर्दयता से बौद्ध मारे गए कि शाकल में एक भिक्षुश्रमण[2] के सिर के लिये एक सौ अशर्फियाँ (दीनार) दी जाती थीं। जैनों ने बौद्धों की तरह जैनधर्मनाशक का नाम पुष्यमित्र साफ साफ नहीं लिखा, लेकिन अत्याचारी कल्कि का जैसा वर्णन जैनों ने किया है उससे वह कल्कि पुष्यमित्र ही निश्चित होते हैं। पुष्यमित्र के हाथ से ब्राह्मण धर्म का उद्धार, बौद्ध तथा जैन धर्मों के नाश, की कथा पुराणों तथा बौद्ध और जैन ग्रंथों में एक ही सी है।

---

(१) कोशलाधिपेन द्विः अश्वमेधयाजिनः सेनापते: पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन(देवेन) धर्मराज्ञी पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारिते। (अ० शिलालेख)

(२) यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्त तेनाभिहितं यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि। (दिव्यावदान)

जैन कहते हैं कि "अत्याचारी कल्कि पाटलिपुत्र में उत्पन्न होगा। वह धर्म का नाश कर डालेगा। श्रमण-रक्त से पृथ्वी भर जायगी। धर्म-कर्म बंद हो जायगा। जो जैन मठ आदि अत्याचार से बच जायँगे वे गंगा की भीषण बाढ़ से, पाटलिपुत्र के साथ साथ, नष्ट हो जायँगे, अर्थात् जैन धर्म का अंत हो जायगा। जब कल्कि का अत्याचार असह्य हो जायगा तब दक्षिण से आकर इंद्र कल्कि[1] को दंड देंगे।" पुष्यमित्र को दंड देने की सामर्थ्य इंद्र के सिवा किसी मे नहीं थी। पुष्यमित्र को यक्ष (वैताल) सिद्ध होने से जैनों ने अजेय लिखा है। पाटलिपुत्र के जैन-वर्णित कल्कि पुष्यमित्र ही हैं। दक्षिण से आनेवाले इंद्र जैन-सम्राट् खारवेल हैं, जो भारी हाथी पर सवार होने के कारण महामेघवाहन और महेंद्र भी कहलाते थे। जैनों पर अत्याचार होने से उन्होंने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर पुष्यमित्र को दंड दिया। (बहसति मितं पादे वंदापयति।)

कृत संवत् के कर्त्ता पुष्यमित्र शुंग तथा उनके पुत्र अग्निमित्र शुंग को मालव और विक्रमादित्य, तथा इन दोनों पिता-पुत्रों का समय हम ईसा से ७० वर्ष पहले मानते हैं। भारत के इतिहास मे आज तक पुष्यमित्र का समय १७० वर्ष ई० पू० माना जा रहा है। इस प्रचलित मत से हमारे सिद्धांत में १०० वर्ष का अंतर है। पुष्यमित्र के समय-निरूपण का मुख्य आधार इंडो-ग्रीक मुद्राओं पर है। इंडो-ग्रीक मुद्राएँ भारत के इतिहास के लिये बहुमूल्य हैं। अभी तक काबुल और पंजाब मे २८ से अधिक इंडो-ग्रीक मुद्राएँ

---

(१) इत्युदित्वा स शक्रेण मम निर्वाणतो गते।
वर्षसहस्रद्वितये भाद्रशुक्लाष्टमी दिने॥
ज्येष्ठर्क्षे रविवारे च चपेटा प्रहतो रुषा।
षडशीतिसमायुक्तः कल्कीराड् नरकं गमी॥
(त्रिभुवनदरीय दीपालिकल्प)

मिली हैं जिनसे २८ से अधिक ग्रीक (यवन) राजाओं के नाम मालूम होते हैं, जो काबुल और पंजाब पर राज्य करते थे। इन्हीं सिक्कों से और पुराणों से भी हम अपने सिद्धांत का प्रतिपादन और प्रचलित सिद्धांत में १०० वर्ष की भूल सिद्ध करेंगे। पुष्यमित्र के समय में पाटलिपुत्र पर यवनों का आक्रमण हुआ है। मौर्य-साम्राज्य पर आक्रमण करनेवाले दो इंडो-ग्रीक नरेश हैं—डेमेट्रियस और मेनांडर। ये दोनों एक ही समय में नहीं थे। दोनों में एक शताब्दी का अंतर है। निर्बल मौर्यों के समय मे डेमेट्रियस ने पंजाब पर आक्रमण किया किंतु घरेलू झगड़े से वह शीघ्र लौट गया। डेमेट्रियस के अनंतर मौर्य-सम्राट् और बौद्धों के संहार से क्रुद्ध होकर मेनांडर ने पुष्यमित्र पर आक्रमण किया। इससे मेनांडर और पुष्यमित्र का समय एक ही है।

इंडो-ग्रीक नरेशों में मेनांडर सबसे बड़ा और प्रतापी था। मेनांडर ने यूक्रेटाइडस के राज्य पर बने पंजाब के छोटे छोटे यवन राज्यों को जीतकर, तथा काबुल के पारथी राज्य का अंत कर, पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। 'महाराजस जयधरस धार्मिकस' मेनांडर, बौद्ध होने के कारण, बौद्ध-साहित्य में भी प्रसिद्ध है। बौद्ध गुरु नागार्जुन से मेनांडर का बौद्ध-धर्म-संबंधी प्रश्न—बौद्ध धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक—'मलिंद पन्हो' है। धार्मिक मेनांडर ने शांकल राजधानी को बड़े बड़े विशाल बौद्ध मठों तथा संघारामों से अलंकृत किया। इसी सद्धर्मी (बौद्ध) मेनांडर ने, बौद्ध मौर्य-सम्राट् तथा बौद्ध भिक्षुओं के वध से क्रुद्ध होकर, माध्यमिका[1] (चित्तौड़) और साकेत[2] (अयोध्या) को जीतकर, पुष्यमित्र को पाटलिपुत्र मे घेर

---

(१) अरुणाद् यवनः माध्यमिकम्।

(२) अरुणाद् यवनः साकेतम्। (महाभाष्य पतंजलि)

लिया, जिससे देशवासी बड़े व्याकुल[1] हो गए। मेनांडर को मगध से पराजित होकर लौटना पड़ा और शुंग-काल में ही पंजाब में यवनों का बल सदा के लिये टूट गया। जो छोटे छोटे यवन राज्य बचे उन पर कुछ समय पश्चात् शकों ने (कादफिसस) अधिकार कर लिया। पुष्यमित्र के समय कलियुग का अंत हो गया और भारत में यवन राज्य भी कलि[2] के अंत में ही है। मेनांडर के साथ ही कलि और यवनों की भी समाप्ति है।

पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य से बृहद्रथ तक दस मौर्य-सम्राटों के नाम हैं। इन दस सम्राटों का समय १३७ वर्ष पुराणों में लिखा है। बौद्ध पुराणों में लिखा है कि राजगृह का राजा बिंबसार श्रेणिक और उसका पुत्र अजातशत्रु कुणिक गौतम बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध का निर्वाण-काल बहुमत से ईसा से ४८७ वर्ष पहले माना जा रहा है। अजातशत्रु से अंतिम मौर्य बृहद्रथ तक ४१६ वर्ष होते हैं। इस हिसाब से भी बृहद्रथ मौर्य और पुष्यमित्र का समय ईसा से ७० वर्ष पहले सिद्ध हो जाता है।

---

(१) ततः साकेतमाक्रम्य पंचालान् मथुरांस्तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे पथि ते स्थिते।
आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥
(बृहत्संहिता)

(२) शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः।
यवना ग्यापयिष्यन्ति न शरण्यं च पार्थिवः॥
मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः।
तेषां अन्योन्यसंभावा भविष्यन्ति न संशयः॥
(वायुपुराण)

अजातशत्रु ३७ वर्ष ... अजातशत्रुर्भविता सप्तत्रिंशत्समा नृपः ।
वंशक २४ वर्ष ... चतुर्विंशत्समा राजा वंशकस्तु भविष्यति ।
(मत्स्यपुराण, अ० २७२)

उदायी ३३ वर्ष ... उदायी भविता तस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।
स वै पुरवरं रम्यं पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ।
नंदिवर्धन ४२ वर्ष ... द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो राजा वै नंदिवर्धनः ।
महानंदिन् ४३ वर्ष ... चत्वारिंशत्त्रयं चैव महानंदी भविष्यति ।
(वायुपुराण, अ० ३७)

नवनंद १०० वर्ष ... महानंदिसुतश्चापि शूद्रायां कालसंवृतः ।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रांतकृन्नृपः ।
अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिवीं पालयिष्यति ।
सर्वक्षत्रं समुद्धृत्य भाविनोर्थस्य वै वलात् ।
तत्पश्चात् तत्सुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।
महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ।
उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः ।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं नरेंद्रः स भविष्यति ।
(श्रीमद्भागवत)

दश मौर्य १३७ वर्ष ... मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ।
४१६ वर्ष ...

इस तालिका से सिद्ध है कि पुराणों के अनुसार अजातशत्रु से बृहद्रथ मौर्य तक ४१६ वर्ष होते हैं और अजातशत्रु के राज्य-काल के ४८० में ४१६ वर्ष घटाने से अंतिम मौर्य बृहद्रथ का अंत ६४ ई० पू० होता है। ६४ ई० पू० में मौर्य-सम्राट् को मारकर तथा ७ वर्षों में लगातार युद्धों के अनंतर विजयी होकर पुष्य-मित्र ने ५७ ई० पू० में अश्वमेध यज्ञ कर अपने पुत्र को सम्राट् बनाया।

कृत संवत् बहुत शीघ्र बदलकर मालव नाम से प्रसिद्ध होने लगा और सहस्र वर्ष तक इसी नाम से चला, फिर धीरे धीरे विक्रम संवत् हुआ जो आज तक लिखा जा रहा है। संवत् का नाम इसलिये बदला कि अग्निमित्र शुंग मालव थे और विक्रमादित्य भी थे। मौर्य-साम्राज्य की सेना में अवंति के मालव सैनिकों की संख्या बहुत अधिक थी। पुष्यमित्र और अग्निमित्र, जो सेनापति के पद पर पहुँच गए थे, विदिशा के रहनेवाले थे। विदिशा-निवासी होने के कारण वे "विदिश" थे। उस समय भारत की राजधानी थी पाटलिपुत्र नगरी। और दक्षिण-पश्चिम भारत की प्रधान पुरी थी उज्जयिनी। सम्राट् हो जाने पर अग्निमित्र यद्यपि पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में भी निवास करते थे; किंतु अधिकतर वे विदिशा मे ही, अपने रमणीक महल में, रहते थे। विदिशा की राजसभा में नवरत्न थे जिनमें कालिदास मुख्य थे। कविकुलगुरु कालिदास का प्रेम विदिशा और उज्जयिनी से तो था ही, मालवेंद्र[1] (अग्निमित्र) पर भी वैसा ही प्रेम और आदर था। विद्वानों को यह बात बहुत खटकती है कि महाकवि ने अपना जीवन-वृत्तांत नहीं बतलाया तथा अपने आश्रयदाता सम्राट् को भी परदे मे रख छोड़ा है।

---

(१) मालविकाग्निमित्र में कविवर अग्निमित्र को आशीर्वाद देते हैं—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि नित्य-
मेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम्।
आशास्यमन्यधिगमात् प्रभृति प्रजानाम्
संपद्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे॥

मत्तोधुना कृतिरियं सति मालवेन्द्रे
श्रीविक्रमार्कनृपराजवरे समासीत्।
यद् राजधान्युज्जयिनी महापुरी
सदा महाकालमहेशयोगिनी॥
(ज्योतिर्विदाभरण)

इसी से रघुवंश महाकाव्य में गुप्त शब्द के बार बार आने से कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि "कालिदास ने दिलीप के यज्ञ के बहाने सम्राट् समुद्रगुप्त के यज्ञ का वर्णन किया है और वे स्वयं सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा की शोभा बढ़ाते थे"।

महाकवि पर यह दोषारोपण ठीक नहीं है। अपना जीवन-वृत्तांत और वंश-परिचय न देते हुए भी कविकुलगुरु अपने प्रिय सम्राट् का नाम प्रकाशित करना भूल नहीं गए। यद्यपि रघुवंश में उन्होंने सम्राट् के पिता (द्विरश्वमेधयाजिन् पुष्यमित्रः) के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन बहाने से किया है, तथापि सम्राट् के असली नाम और विरुद पर भी दो नाटकों की रचना की है। इन दो नाटकों में सम्राट् के नाम से "मालविकाग्निमित्र" और विरुद पर "विक्रमोर्वशी" लिखा है। नायिका का नाम मालविका इसलिये है कि नायक भी मालव थे और नायिका मालविका की लीला-भूमि थी अवंति—मालव देश की प्रधान नगरी विदिशा। विक्रमोर्वशी में पुरूरवा और उर्वशी की कथा है। पुराणों मे पुरूरवा का नाम या विरुद विक्रम कहीं नहीं मिलता। विक्रम शब्द केवल अग्निमित्र को नव-प्राप्त विक्रमादित्य विरुद के साथ प्रसिद्ध करना था। रघुवंश बनाकर कवि ने उस अश्वमेध यज्ञ का वर्णन किया है जो सहस्राधिक वर्ष से भारत में असंभव हो रहा था। प्रथम अश्वमेध और समुद्रगुप्त से पहले तक ४०० वर्ष में अनेक अश्वमेध हो गए थे। शुंग-काल में लिखे जाने से रघुवंश तथा मालविकाग्निमित्र आदि कालिदास की पुस्तकों में यवनों[१] का विशद वर्णन है। कुछ

---

(१) यवनी धनुर्हस्ता प्रविश्य। (विक्रमोर्वशी)

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः॥
(रघुवंश)

विद्वानों का मत है कि "कालिदास शुंग-काल में नहीं हो सकते। शुंग-काल में कालिदास की शैली की संस्कृत का प्रचार ही नहीं था" इत्यादि। किंतु कालिदास की शैली की संस्कृत महाकवि से सैकड़ों वर्ष पहले से लिखी जा रही है। महाकवि भास[1] और अश्वघोष[2] तो ईसा से १०० वर्ष पहले माने जाते हैं। इन महा-कवियों की संस्कृत-शैली और कालिदास[3] की शैली एक ही है।

यद्यपि जैन साहित्य में विक्रमादित्य की कथा विशद रूप से है तथा संवत्कर्ता विक्रम[4] का नाम साफ लिखा है, तथापि ब्राह्मणों के खिलाफ होने से गर्दभिल्ल के पुत्र मौर्य विक्रमादित्य की बात

यज्ञाश्व पकड़ लेनेवाले यवन घुड़सवारों से सिंधु नदी के दक्षिण युद्ध हुआ। योसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतम् वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सराय निवर्तनीयो निरर्गलस्तुरंगमो विसर्जितः। स सिन्धोर्दक्षिणे रोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत् संमर्दः। (मालविकाग्निमित्र)

(१) भास कवि का शरद्-वर्णन सुभाषितावलि से—

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृङ्गं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पंकः॥

(२) श्रियं परार्ध्यां विदधद्विधातृजित् तमो निरस्यन्नभिभूतभानुभृत्।
नुदन्निदाघं जितचारुचन्द्रमाः स वन्द्यतेऽर्हन्निह यस्य नोपमा॥
(अश्वघोषकृत बुद्धचरित)

(३) शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपांडुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥
(कालिदासकृत रघुवंश)

(४) इति श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवन्तीं नराधिपः।
अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम्॥
(प्रभावकचरित, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, मुनि कल्याणविजय)

भ्रमात्मक है। गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त भी संवत्कर्त्ता विक्रमादित्य नहीं हो सकते। परम भट्टारक, परम वैष्णव, परम माहेश्वर गुप्त सम्राट् परम अर्हत भी थे अर्थात् वे बौद्धों का भी आदर करते थे। किसी धर्म पर गुप्तों का अत्याचार नहीं था। ब्राह्मण-साहित्य के अनुसार विक्रमादित्य ने कलिंग[1] देश (खारवेल) को जीतकर विजय-श्री प्राप्त की। उन्होंने सहज में ही कांबोज, यवन, हूण आदि नीच, बर्बर तथा त्यक्ताचार पारसीकादिकों को जीतकर पृथ्वी का भार उतारा। तब भगवान् विष्णु ने महीपति विक्रमादित्य से कहा कि तुम हमारे अंश से उत्पन्न हुए हो, अर्थात् चौबीसवाँ अवतार हो। बृहत्कथा-मंजरी की विक्रमादित्य-विषयक यह कथा बौद्ध और जैन धर्मों का नाश करनेवाले, यवन, शक, कांबोजादिकों को पराजित करनेवाले, कलिंगविजेता, सहस्राधिक वर्ष से भारत में लुप्तप्राय वैदिक धर्म का उद्धार कर अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, विष्णु के चौबीसवे अवतार, द्विअश्वमेधयाजी काश्यप द्विज, मालव, संवत्सर के प्रवर्तक शुंग-वंश पर ही पूर्ण रीति से घटित होती है।

---

(१) ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः।
राजा श्री विक्रमादित्यः स्त्रीं प्राप विजयश्रियम्॥
अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान्।
तुषारान् पारसीकांश्च त्यक्ताचारान् विशृङ्खलान्।
हत्वा भ्रूभंगमात्रेण भुवो भारमवारयत्॥
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशांकत.॥
(बृहत्कथामंजरी)

(२२) हिंदी का एक उपेक्षित उज्ज्वल पक्ष

[लेखक—श्री सूर्यकरण पारीख एम० ए०, पिलानी]

पिछले कुछ वर्षों से हमें इस ओर धुन सी लग गई है और दिन प्रति दिन यह धारणा दृढ़ हो रही है कि हिंदी की पूर्णोन्नति के लिये राजस्थानी साहित्य का उद्धार होना नितांत आवश्यक है। लेखक स्वयं राजस्थानवासी है, अतएव लोग यह विचार सहज ही में कर सकते हैं कि इस धारणा के आधार में, "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति" वाली पक्षपात-वृत्ति हो। परंतु ऐसी बात नहीं है। वास्तव में बात यह है कि राजस्थान में अब भी उत्कृष्ट कोटि का साहित्य इतने प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा है कि यदि उसका आंशिक प्रकाशन भी हो जाय तो हिंदी-साहित्य-भांडार के कई रिक्त स्थल भरे-पूरे किए जा सकते हैं। परंतु, इस बात का पूरा खेद है कि हिंदी के विद्वानों ने राजस्थान के साहित्य को अब तक उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि राजस्थानी एक प्रांतीय भाषा है और हिंदी से बहुत कुछ स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। अतएव उसके साहित्य की वृद्धि होने से हिंदी की उन्नति न होकर, हिंदी की एक प्रतिस्पर्द्धिनी भाषा की प्रतिष्ठा होगी, जिससे हिंदी की वर्धमान गति में अवरोध होने की आशंका की जाती है। यह आशंका निर्मूल है। पहले तो साहित्यिक दृष्टि से राजस्थानी को हिंदी से स्वतंत्र भाषा मानना ही भारी भूल है। ऐसा विचार करने पर तो अवधी, व्रजभाषा, विहारी आदि हिंदी की अंगभूत भाषाएँ और उनके साहित्य भी स्वतंत्र भाषा और साहित्य समझे जा सकते हैं। तब तो सूर, तुलसी, जायसी, विद्यापति आदि महा-

कवियों का हिंदी से कोई वास्ता न रहेगा और इन कवियों को निकाल देने पर हिंदी में रह ही क्या जायगा। इसी प्रकार यदि राजस्थानी को हिंदी से पृथक् समझा जायगा तो चंद और मीरा को हिंदी कवियों की श्रेणी में गणना करना भी भूल ही होगी। परंतु ऐसी बात नहीं है। वास्तव मे न तो सूर, तुलसी और जायसी हो हिंदी से पृथक् किए जा सकते हैं और न चद और मीरा ही। हिंदी को खडी बोली के संकुचित क्षेत्र में सीमाबद्ध करने का प्रयास करना हिंदी के प्रति अन्याय करना होगा। भारतवर्ष जैसे विस्तृत देश की राष्ट्रभाषा होने का दावा रखनेवाली भाषा का कलेवर सुविस्तृत और व्यापक होना चाहिए और वास्तव में है भी ऐसा ही।

व्रजभाषा, राजस्थानी, अवधी और पूर्वी हिंदी का राष्ट्रभाषा हिंदी के साथ अंगांगि संबंध है और जिस प्रकार अवयव और अंगों को शरीर (अंगी) से पृथक् समझना मिथ्या कल्पना है उसी प्रकार इन भाषाओं को भी हिंदी से अलग समझना भारी भूल है। अँगरेजी साहित्य की ओर हो देखिए। अँगरेज जाति ने अपने अर्वाचीन साहित्य मे इतनी उन्नति की है कि यदि शेक्सपियर और मिल्टन के बाद के समय के साहित्य को ही वे अपना जातीय साहित्य मानने लगें और संकुचित भावों से प्रेरित होकर उनके पहले के ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के कवियों और लेखकों को अपने साहित्य से पृथक् कर दें, तो उनको विशेष क्षति नहीं होती। परंतु, क्या उन्होंने ऐसा किया है? क्या चॉसर, मार्लो, गॉवर इत्यादि पूर्ववर्ती कवियो को उन्होंने अँगरेजी का कवि नहीं माना है? यही नहीं, अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल के स्कॉटिश कवि बर्न्स (Burns) को अँगरेजी साहित्य में उतना ही समादरणीय स्थान मिला है जितना कि वर्ड्सवर्थ और शेली को, यद्यपि बर्न्स की भाषा का रूप प्रांतीय ही है। सच बात तो यह है कि किसी भी समृद्ध भाषा में व्यापकता और सहिष्णुता

का गुण होना परमावश्यक है। विवेकशील हिंदी-हितैषियों के समक्ष हमारा यह कथन अन्यथा नहीं समझा जायगा, ऐसी आशा की जाती है।

इस बात को हिंदी के सभी ज्ञाता एवं विद्वान् जानते हैं कि राजस्थानी भाषा और हिंदी का चोली-दामन का साथ रहा है। वास्तव में देखा जाय तो हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अपने राजस्थानी रूप में ही प्रकट हुआ है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-निर्माण में और हिंदी भाषा के विकास में राजस्थानी का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। मीराबाई स्त्री-कवियों में हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ कवयित्री हैं और वही राजस्थानी काव्य की आत्मा भी है। चंद बरदाई हिंदी के आदि-कवि समझे जाते हैं और वही राज-स्थानी के श्रेष्ठ कवि भी हैं। नरपति नाल्ह का "बीसलदेव रासो" प्राचीन हिंदी का शृंगार है और राजस्थानी भी उस पर गर्व करती है। कबीर को हिंदी का प्राचीन कवि समझा जाता है, परंतु कहना न होगा कि उनकी कविता पर राजस्थानी भाषा की पूरी छाप लगी है और राजस्थानी जनता ने भी कबीर को अपने लोक-सम्मान्य कवि की तरह अपनाया है। सारांश, राज-स्थानी और हिंदी में इतनी घनिष्ठता और एकता है कि दोनों को पृथक् करने की चेष्टा और कुछ नहीं तो विवेकशून्य अवश्य प्रतीत होती है। प्राचीनता के नाते से राजस्थानी हिंदी की बड़ी बहिन हुई। हिंदी को बाल्यकाल में पालन-पोषण करने का श्रेय राजस्थानी को अवश्य देना पड़ेगा और यह भी कहे बिना रहा नहीं जाता कि इतना स्नेहपूर्ण दायित्व और अधिकार होने पर भी यदि हिंदी का अपनी बड़ी बहिन के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार रहा, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि बाल-चापल्यवश हिंदी बड़े-बूढ़ों का सम्मान करना भूल गई है।

अस्तु, हमने पक्षपात और स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, बल्कि सोच-समझकर हिंदी के हित की प्रेरणा से साहित्य-सेवियों का ध्यान हिंदी के इस उपेक्षित पक्ष की ओर आकर्षित किया है।

उपर्युक्त कथन के संबंध में संक्षेप में यह भी बता देना युक्ति-संगत होगा कि किस प्रकार और किन किन अंगों में राजस्थानी साहित्य की खोज करने से हिंदी की समृद्धि हो सकती है और इस प्रकार की खोज से हिंदी को विशेष लाभ होने की संभावना है भी या नहीं।

राजस्थान की इतिहास-प्रसिद्ध भूमि भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और महत्त्वपूर्ण आदर्शों की केंद्र रही है; यह तो सभी जानते हैं। इसी आधार पर यह अनुमान करना भी अयुक्तिसंगत न होगा कि भारत के इतिहास में अग्रणी रहनेवाली भूमि का साहित्य भी महत्त्व-पूर्ण और सर्वांग-संपूर्ण रहा होगा। परंतु राजस्थानी का साहित्य-भांडार उत्तमोत्तम रत्नों से परिपूर्ण होते हुए भी उनकी झलक सूर्य के प्रकाश में बाह्य जगत् को अब तक नहीं मिली है। इस प्रसंग में यह बात भूलना न होगा कि काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और बंगाल की एशियाटिक सोसायटी जैसी कुछ संस्थाओं तथा कर्नल जेम्स टॉड, डाक्टर टैसीटरी, महामहोपाध्याय राय बहादुर गौरी-शंकर हीराचंद ओझा, पं० रामकरण आसोपा, मुंशी देवीप्रसाद; श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ जैसे महापुरुषों का हमको उपकार मानना चाहिए कि जिन्होंने इस अप्रकाशित रत्न-भांडार के कुछ देदीप्यमान रत्नों को स्वयं देखा है और समय समय पर साहित्य-जगत् को गंभीर सूचना दी है कि इस भाषा में साहित्य के सभी अंगों पर बहुमूल्य भांडार भरा पड़ा है। परतु जब तक मन की सच्ची लगन से उत्साहित होकर परिश्रमशील साहित्य-सेवी इस ओर अन्वेषण और प्रकाशन के कार्य में कटिबद्ध नहीं होते तब तक इस निधि का होना न होना बराबर है।

राजस्थानी साहित्य की खोज अब तक कई प्रमुख विद्वान कर चुके हैं। उनमें से कुछ के नाम तथा इतर अन्वेषण-सूत्रों का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ पर अप्रयुक्त न होगा।

(१) डाक्टर एल० पी० टैसीटरी—एशियाटिक सोसायटी, बंगाल की ओर से इन्होंने पश्चिमी राजस्थान में कई वर्षों तक साहित्यिक खोज की थी। परिणामतः जिन जिन ग्रंथों का इनको पता लगा उनकी संक्षिप्त विवरण-सूची इन्होंने सोसायटी की "Bibliotheca Indica" शीर्षक रिपोर्टों में छपवा दी। अपने अन्वेषण के उत्तर काल में डा० टैसीटरी ने बीकानेर दरबार लायब्रेरी को अपना केंद्र बनाकर उस पुस्तकालय के कई ग्रंथ-रत्नों को एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित भी करवाया था। इनके विवरणों से हजारों उत्तमोत्तम ऐतिहासिक गद्य, पद्य, गीत और आख्यायिका, संगीत और ज्योतिष-विज्ञान के राजस्थानी और संस्कृत में लिखित ग्रंथों का पता लगता है। उत्साही साहित्यज्ञों को इन मार्ग-प्रदर्शक रिपोर्टों से अपने साहित्योद्धार कार्य में बहुत कुछ सुगमता हो गई है।

(२) महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने भी इसी प्रकार की खोज करके एशियाटिक सोसायटी की ओर से एक रिपोर्ट लिखी है जिससे भावी अन्वेषक लाभ उठा सकते हैं।

(३) गुजरात के कुछ पुरातत्त्ववेत्ता साहित्यान्वेषकों ने भी इधर कुछ खोज की है। इनमें श्री चीमनलाल डाह्याभाई दलाल बी० ए० का नाम उल्लेखनीय है, जो बड़ौदा की प्रसिद्ध गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज के संपादक रहे हैं और जिन्होंने जेसलमेर के प्रसिद्ध राजकीय प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकागार की विवरणात्मक सूची तैयार की है। इनका परिश्रम भी भावी अन्वेषकों को अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(४) इसके अतिरिक्त राजस्थान की प्रमुख रियासतों—यथा बीकानेर, जोधपुर, जेसलमेर—के अनेक जैन-पुस्तक-भांडारों में प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें सुरक्षित हैं, जिनमें से हजारों बहुमूल्य पुस्तकें अब तक अप्रकाशित हैं।

उपर्युक्त सूत्रों की सहायता से अपने सौभाग्यवश हम भी उस अनिर्वचनीय रत्नागार की एक हलकी सी झलक देख चुके हैं। परंतु इस विशाल रत्नाकर में पैठकर बहुमूल्य मणियों की खोज करने का श्रेय अब तक हमें नहीं मिला है। हम तो अभी किनारे पर बैठे हुए प्रतिफलित आभा मात्र के चमत्कार को ही देखकर मुग्ध हो रहे हैं। इस सागर की गंभीरता में पैठने का कार्य उन साहित्य-महारथियों का होगा जिनका अदम्य उत्साह और जिनकी प्रखर योग्यता इस महान् कार्य के लिये उपयुक्त है। परंतु तो भी अपने बालसुलभ कौतुक के भावों को प्रकाशित किए बिना हम नहीं रह सके, अतएव यह निवेदन करना उचित समझा।

वर्तमान समय में हिंदी-साहित्य को इस बृहत् रत्न-भांडार से जो लाभ होना संभव है, उसके संबंध में दो शब्द कह देना उचित होगा।

(१) हमारी समझ में हिंदी के इतिहास-विभाग में, राजपूत-इतिहास के संबंध में, बहुत सी बहुमूल्य बातें राजस्थानी साहित्य की खोज से मालूम हो सकती हैं। इस मार्ग पर श्री ओझाजी तथा श्री रेऊजी को छोड़कर अभी बहुत कम गण्यमान्य विद्वान् दृष्टि-गोचर होते हैं। पक्षपात अथवा वैमनस्यमूलक बहुत सी संदिग्ध एवं कपोलकल्पित बातें राजपूत कुलों के संबंध में प्रचलित हो गई हैं, जिनका परिमार्जन सच्चे इतिहास की नवीन खोज से हो सकता है। यह इतिहास की सामग्री कई भिन्न रूपों में उपलब्ध होती है। राजस्थानी में "ख्यात" शब्द से इतिहास का अभिप्राय होता है। यथा—(१) "मूँता नैणसी री राजस्थान री ख्यात", (२) "राठौड़ाँ

री ख्यात सिधायच दयालदास कृत"। इनमें से प्रथम पुस्तक नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हो रही है। गद्यमय ख्यातों के अतिरिक्त पद्यमय ऐतिहासिक सामग्री भी बहुतायत से प्राप्त होती है। यद्यपि इसमें कवि-कल्पना की पुट मिली होती है परंतु तो भी अतिशयोक्ति को अलग करने पर जो अंश बाकी बच रहता है उसमें बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य रहता है। इस प्रकार का एक काव्य-ग्रंथ "राउ जैतसी रउ छंद" है, जिसमें उस ऐतिहासिक वृत्तांत का विवरण है जब बीकानेर के राव जैतसिंह ने, पश्चिमी राजस्थान को विजय करने को निकले हुए, मुगल शाहजादे कामरॉन को बीकानेर के गढ़ घेरने के समय बड़ी भारी मुसलमानी फौज सहित हराकर भगा दिया था। इस वृत्तांत का सच्चा विवरण बहुत कम मुसलमानी तवारीखों में मिलता है। इस प्रकार के पद्य-प्रबंधों के अतिरिक्त हजारों वीरों की वीरता के गीतों से बड़े बड़े पोथे भरे पड़े हैं। इनसे भी इतिहास-तत्त्वों का अन्वेषण हो सकता है।

(२) हिंदी-साहित्य में कहानी-कला आधुनिक समय में खूब उन्नति कर रही है। उत्तमोत्तम कहानियाँ लिखी जा रही हैं और लोकरुचि भी उपन्यासों को छोड़कर इस ओर बढ़ती दिखाई देती है। परंतु एक समय था (और अब भी वह समय पूर्णतः चला नहीं गया है) जब राजस्थान में वीरता, नीति और धर्म-संबंधी कहानियाँ कहने-सुनने का बड़ा प्रचार था। राजा-महाराजा, ठाकुर-सरदार और प्रतिष्ठित महाजनों के पास चारण, भाट, बंदीजन इसी कार्य के लिये रहते थे कि वे अपने अद्वितीय ढंग से कहानी कहें अथवा लिखें। बहुत सी कहानियाँ तो बहुश्रुत ऐतिहासिक घटनाओं किंवा सामाजिक वृत्तांतों पर आश्रित होती थीं। राजस्थानी कहानी की भी एक निराली कला है जो हिंदी की आजकल की गल्प-लेखन-शैली से सर्वथा भिन्न है। हमारा इन कहानियों का अध्य-

यत्न और परिशीलन हमें यह लिखने को बाध्य करता है कि हिंदी की कहानी में वह लोच, वह आकर्षकता, वह सजीवता, वह चमत्कारपूर्ण हृदयग्राही वर्णन-शैली और प्रसादपूर्ण वह जनमोहक शक्ति अब तक पूर्ण रीति से दृष्टिगोचर नहीं होती जो राजस्थानी कहानियों में प्रकट हुई है। इन कहानियों की गद्य-शैली का ढंग किसी भी गौरवशालिनी भाषा का अलंकरण होने के सर्वथा योग्य है। ऐसी असंख्य कहानियों से अप्रकाशित राजस्थानी साहित्य भरा पड़ा है। साहित्य-रसज्ञों की इस ओर भी दृष्टि जाना नितांत आवश्यक है। इस प्रकार की कहानियों में से ७ प्रसिद्ध कहानियों का हिंदी रूपांतर शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रयत्न हम कर रहे हैं।

(३) काव्य-ग्रंथ तो राजस्थानी में इतने हैं जिनकी कोई गणना नहीं हो सकती। ये प्राय. डिंगल (साहित्यिक राजस्थानी अथवा चारणों की परंपराबद्ध काव्य-भाषा) में लिखे मिलते हैं। बहुत से काव्यों का विषय तो राजस्थान के वीर राजाओं का जीवन-वृत्तांत लिखना होता है, कुछ में इतर वीर अथवा धार्मिक महापुरुषों के गुणगान किए गए हैं, कुछ में धर्म और नीति-संबंधी दोहे हैं। खोज करने पर इनमें से बहुत से ऐसे उत्तम ग्रंथ भी निकल सकते हैं जिनकी कविता में उत्तम काव्य के लक्षण विद्यमान हैं और जो राजस्थानी और हिंदी की स्थायी काव्य-संपत्ति बन सकते हैं। इन्हीं में से तीन काव्य-रत्नों का संपादन करके प्रकाशित करने का, अपने मित्रों सहित इस लेखक ने, प्रयास किया है। (१) वेलि, क्रिस्न रुक्मिणी री, महाराज पृथ्वीराज राठौड़ कृत, (२) ढोला-मारू रा दूहा—१६ वीं शताब्दि के लगभग लिखित राजस्थान का एक लोकप्रिय गीत-काव्य। (३) "राउ जैतसी रउ छंद"। इनमें से प्रथम तो हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है।

दूसरा नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा लगभग प्रकाशित होने को है। तीसरा भी क्रमशः प्रकाशित होगा।

इसके अतिरिक्त बहुत से वैज्ञानिक विषयों पर लिखे हुए पद्यमय डिंगल अथवा संस्कृत ग्रंथ भी इतस्ततः उपलब्ध होते हैं, जिनमें ज्योतिष, गणित, मृगया, पशुपालन, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या, संगीत आदि विषयों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन किया हुआ मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि राजस्थान के राजा और रईस कितने विद्याव्यसनी और सद्वृत्त महापुरुष होते थे। उदाहरण के लिये जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह, जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह, मेवाड़ के राणा राजसिंह इसी प्रकार के साहित्यशील और प्रख्यात वीर नरेश हुए हैं।

अब इस लेख को यहाँ समाप्त करते हुए हम हिंदी-प्रेमी सज्जनों से प्रार्थना करेंगे कि वे संकुचित विचारों को त्यागकर उदारता सहित हिंदी की इस चिर उपेक्षित बहुमूल्य निधि को अपनावें और मातृभाषा के कोष को नए नए अमूल्य रत्नों से अलंकृत करें।

---

(२३) हिंदी में प्रेमगाथा साहित्य और मलिक मुहम्मद जायसी

[लेखक—श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी एम० ए०]

जायसी से प्रायः सौ सवा सौ बरस पहले हिंदू और मुसलमान जनता सांप्रदायिक विद्वेष को बहुत कुछ किनारे कर एक दूसरे की संस्कृति, उपासना, विचार आदि को सहानुभूति-पूर्वक समझने और परस्पर उनके आदान-प्रदान की ओर रुचि करने लगी थी। यद्यपि तत्कालीन मुसलमान शासकों का भाव हिंदू प्रजा के प्रति विशेष सहानुभूतिपूर्ण न था तथापि हिंदू और मुसलमान प्रजा में एक प्रकार का भ्रातृभाव स्थापित हो चला था, और यह उत्तरोत्तर दृढ़ से दृढ़तर होता चला जा रहा था। मुसलमान प्रजा यह समझने लगी थी कि हिंदुस्तान में यदि हमें रहना ही है तो हिंदुओं के विश्वास, संस्कृति, साहित्य आदि के प्रति उदासीन होकर रहना असंभव है। शायद यही कारण था कि तत्कालीन कुछ मुसलमान विचारक, फकीर और कवि हिंदुओं के साहित्य और संस्कृति के अध्ययन की ओर तो झुके ही, कुछ ने हिंदुओं की तत्कालीन काव्यभाषा में साहित्य-निर्माण का भी श्रीगणेश किया। इन लोगों ने यह ठीक ठीक समझ लिया था कि दोनों संप्रदायों में एक दूसरे की संस्कृति और साहित्य को लोकप्रिय बनाने से बढ़कर आपस में घनिष्ठता और सौहार्द स्थापित करने का दूसरा उपाय नहीं हो सकता। इसी विचार से प्रेरित होकर खुसरो, कबीर, जायसी आदि कुछ दूरदर्शी कवियों ने इस दिशा की ओर पैर बढ़ाया और इसमें उन्हें अच्छी सफलता भी मिली। सबसे पहले खुसरो ही इस कार्य में अग्रसर हुआ।

प्रेमगाथा काव्य का प्रादुर्भाव

उसकी कविता का एक बड़ा भाग लुप्त हो गया है तो भी जो प्राप्त है उससे हिंदुओं के धर्मग्रंथ, संस्कृति तथा साहित्य आदि के प्रति उसकी पूरी श्रद्धा और सहानुभूति स्पष्ट है। कबीर का मार्ग सबसे निराला था। इन्होंने दोनों की बुराइयों का प्रतिवाद करते हुए उन्हें प्रेम के साधारण सूत्र में बाँधने की चेष्टा की। इनके प्रतिवाद प्राय: इतने तीव्र—परंतु अच्छे—हुआ करते थे कि दोनों ही संप्रदायों के कट्टर और धर्मांध लोग इनके घोर विरोधी हो गए। पर इतना होते हुए भी दोनों ही संप्रदायों की अधिकांश जनता पर इनकी शिक्षाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा, और दोनों ही जातियों की अधिकांश जनता—जो धार्मिक कट्टरपन की वहक से बरी थी—कबीर की अनुयायिनी बन गई।

इसके बाद कुतुबन और जायसी आदि का समय आता है। कबीर की उक्तियों से जो बात न हुई वह इनकी प्रेमगाथाओं से हुई।

प्रेमगाथाओं का लक्ष्य

इन लोगों ने अपनी प्रेमगाथाओं द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य मात्र के हृदय में—चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, या कोई हो—प्रेमभावना का वही बीज समान रूप से अंकुरित होता है। इन लोगों ने आख्यानक-काव्य द्वारा यह दिखलाया कि किसी के रूप-गुण से आकृष्ट होकर उससे मिलने की इच्छा करना, इस कार्य की सिद्धि के लिये नाना प्रकार के असह्य कष्ट झेलना, अंत में उसकी प्राप्ति के सुख और फिर उसके वियोग के दुःख तथा प्रेम की पीर—क्या हिंदू, क्या मुसलमान—सबके हृदय में समान रूप से उठती हैं। इन लोगों ने मुसलमान होकर हिंदू घरानों में प्रचलित प्राचीन प्रेम-कहानियों को उन्हीं की भाषा में कहा, पर अपने ढंग से, और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि जहाँ प्रेम है वहाँ जाति, संप्रदाय या मत-मतांतर का भेद कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार की

प्रेमगाथा लिखनेवालों में सबसे पहले कवि, जिनकी रचना प्राप्य है, शेख कुतुबन हैं। ये चिश्तीवंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और इनकी रचित 'मृगावती' (निर्माण-काल ९०९ हिजरी, अर्थात् संवत् १५५९ वि०) इस प्रकार का पहला आख्यानक काव्य है। इसमें अवधी बोली मे दोहा-चौपाइयों में चंद्रनगर के राजा गणपति-देव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपकुमार की राज-कन्या मृगावती की प्रेम-कहानी वर्णित है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इन लोगों ने हिंदुओं की कहा-नियाँ अपने ढंग से कहीं। भारतीय साहित्य में प्रबंध-काव्यों की जो सर्गबद्ध प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है उससे इन्होंने काम नहीं लिया। इन्होंने फारस की मसनवियों को आदर्श बनाया। इनमें कथा, विचार के अनुसार, सर्गों या अध्यायों मे विभक्त नहीं होती। एक सिरे से इनका क्रम अखंड रूप से बराबर चला जाता है, केवल कहीं कहीं घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षकों के रूप में दे दिया जाता है; जैसे—'सात समुद्र खंड', 'राजा गढ़ छेंका खंड' या 'राजा बादशाह युद्ध खंड' इत्यादि। मसनवियों की रचना के संबंध में कुछ विशेष साहित्यिक परंपराओं के पालन का प्रसंग नहीं होता। इनमें केवल इतना ही आवश्यक होता है कि सारी रचना केवल एक ही छंद में हो, पर कथावस्तु के संबंध में एक परंपरा का पालन अवश्य करना पड़ता है। आरंभ में परमेश्वर, नबी और तत्कालीन बादशाह की स्तुति मसनवियों में अनिवार्य समझी जाती है। इस परंपरा का पालन जायसी और कुतुबन आदि सभी प्रेम-गाथा-कारों ने नियम से किया है। छंद भी उन लोगों ने आद्यो-पांत दोहा-चौपाई ही (सात सात या कहीं कहीं नौ नौ चौपाइयों के बाद एक एक दोहा) रखा है। चौपाइयों की संख्या देखकर

गाथाओं की विशेषताएँ

नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न वहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इस प्रकार अंतिम चौपाई में कवि एक प्रकार से चुनौती दे देता है कि यदि उक्त रीति से कथा को समझना चाहो तो समझ लो।

हिंदी और संस्कृत के अधिकांश प्राचीन कवियों की भाँति प्रेमगाथा साहित्य के प्रधान कवि जायसी की भी जन्म-मरण-तिथि, जन्मस्थान, माता-पिता आदि के संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। इतना तो इनके उपनाम जायसी से ही प्रकट है कि ये अवध प्रांत के अंतर्गत 'जायस' नामक स्थान के रहनेवाले थे। प्रकृत मातृभूमि या जन्मस्थान चाहे जायस न रहा हो, पर इनके क्रिया-कलाप का केंद्र यही रहा होगा। पदमावत में आई हुई इस पंक्ति से भी यही धारणा पुष्ट होती है—"जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू।" इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि कहीं से आकर (तहाँ आइ) ये जायस में बस गए थे। कहाँ से आकर, इसका कुछ पता नहीं। इनकी उत्पत्ति के संबंध में यह किंवदंती बहुत दिन से चली आ रही है कि इनका जन्म गाजीपुर के जिले में एक बड़े दरिद्र परिवार में हुआ था। सात वर्ष की अवस्था मे इन्हें चेचक की बीमारी हुई जिसमें इनके प्राण तो बच गए, पर इनकी एक आँख जाती रही। कहते हैं कि इस बीमारी से इनकी रक्षा करने के लिये इनकी माता ने मकनपुर के पीर मदारशाह की मनौती मानी थी, और इन्हीं की दुआ से इनकी जान बची। पर मनौती पूरी करने के पूर्व ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इनके पिता तो पहले ही मर चुके थे।

मलिक मुहम्मद जायसी

इनके एकाक्ष होने का प्रमाण पदमावत की इस पंक्ति से मिलता है—"एक नयन कवि महमद गुनी।" एक दोहे में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि बीमारी में इनकी बाईं आँख तो फूटी थी ही बाँया कान भी बहरा हो गया था[1]। इन किंवदंतियों तथा अन्य ऐतिहासिक वृत्तांतों से इनके अत्यंत कुरूप होने का प्रमाण मिलता है। एक बार अवध का कोई राजा, जो इन्हें पहचानता न था, इनके कुरूप चेहरे को देखकर हँसा। इस पर इन्होंने उससे केवल इतना ही कहा—'मोहिका हँसेसि कि कोहरहि' अर्थात् तू मुझ पर हँसा कि उस कुम्हार (निर्माता, ईश्वर) पर? कहते हैं कि इस पर राजा बड़ा लज्जित हुआ। बाद में इनका परिचय जानने पर उसने इनसे क्षमा माँगी। इनके जीवनकाल का कुछ अनुमान पदमावत के रचना-काल से भी लगता है जो इन्होंने उक्त ग्रंथ में दे दिया है—"सन नव सै सैंतालीस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।" इस ग्रंथ का आरंभ सन् ९४७ हिजरी, अथवा तदनुसार संवत् १५९७, में हुआ था। यह शेरशाह का राजत्व-काल था और ग्रंथारंभ में कवि ने इसकी प्रशंसा में भी बहुत से पद्य लिखे हैं। बस इसी से जायसी के आविर्भाव और कविता-काल का स्थूल अनुमान किया जा सकता है।

जायसी के गुरु शेख मोहदी (मुहीउद्दीन) थे। अपनी गुरु-परंपरा का वर्णन जायसी की पदमावत और अखरावट दोनों में दिया हुआ है। यह परंपरा निजामुद्दीन औलिया से आरंभ होती है। इसका सारांश आगे दिया जाता है—

---

(१) 'मुहमद बाईं दिसि तजा एक सरवन एक आँखि।'

निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु १३२५ ई०)
|
सिराजुद्दीन
|
शेख अलाउल हक
|
शेख कुतुब आलम (पंडोई के, १४१५ ई०) — सैयद अशरफ जहाँगीर
|
शेख कुतुब आलम → शेख हशामुद्दीन (मानिकपुर के)
सैयद अशरफ जहाँगीर → शेख हाजी → शेख मुबारक, शेख कमाल
|
सैयद राजी हामिद शाह
|
शेख दानियाल (मृत्यु १४८६ ई०)
|
सैयद मुहम्मद
|
शेख अलहदाद
|
शेख बुरहान (कालपी के, मृत्यु सन् १५६२ ई०)
|
शेख मोहिदी (मोहीउद्दीन)
|
मलिक मुहम्मद (जायसी)

उपर्युक्त परंपरा जायसी के अनुयायी मुसलमानों में अब तक प्रचलित है। पदमावत मे दी हुई वंशावली इससे कुछ भिन्न है। अखरावट में इन्होंने अपनी गुरु-परंपरा का इस प्रकार वर्णन किया है—

पा०—पाएउँ गुरू मोहदी मीठा। मिला पंथ जो दरसन दीठा॥
नाँव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू॥
औ तिन्ह दरस गोसाँईं पावा। अलहदाद गुरु पंथ लखावा॥
अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद के वै चेला॥
सैयद मुहमद दीनहि साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सुवाचा॥
जुग जुग अमरसा हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे॥
दानियाल तहँ परगट कीन्हा। हजरत ख्वाज खिजिर पथ दीन्हा॥

दोनों वंशावलियों का मिलान करने से मालूम होगा कि शेख दानियाल तक तो दोनों एक हैं; पर इसके आगे जायसी की दी हुई वंशावली में दानियाल के गुरु हामिदशाह और इनके ऊपर के गुरुओं का उल्लेख नहीं है। अस्तु, यह तो हुई जायसी की वास्तविक गुरु-परंपरा। परंतु इनके ग्रंथ के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने अन्य संप्रदायवालों से भी बहुत कुछ संस्कृति और ज्ञान पाया था। इनकी रचनाओं में योग तथा वेदांत दर्शन के बहुत से सिद्धांतों का सूफी संप्रदाय के सिद्धांतों के साथ एक बड़ा रुचिर संमिश्रण देखने में आता है, जो शायद अन्य किसी भी कवि की रचना में दुष्प्राप्य है। परमात्मा की प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न आचार्यों ने जितने मार्ग दिखाए हैं उनमें से किसी की भी इन्होंने कबीर की भाँति तीव्र आलोचना नहीं की है। जहाँ जिसकी चर्चा की है वहाँ उसके प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है। पर इसके साथ ही एक सच्चे मुसलमान की भाँति मुहम्मद साहब के बताए हुए मार्ग को सबसे सुगम और अतएव सर्वश्रेष्ठ माना है। नीचे लिखी हुई चौपाइयों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

बिधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते॥
तिन्ह महँ पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनो जग छाज बड़ाई॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

जायसी की एक मुख्य विशेषता यही है कि एक सच्चे पहुँचे हुए फकीर या साधक की भाँति ये सदा दैन्य भाव से ही रहे; न तो इन्होंने कबीर आदि की भाँति अपना कोई नया पंथ ही चलाने का विचार किया, और न इन्होंने अपनी फकीरी के संबंध में किसी प्रकार की गर्वोक्ति ही की। कबीर का तो यहाँ तक दावा था कि जिस चादर (चोला या शरीर) को सुर-नर-मुनि सबने ओढ़कर उसमे धब्बा लगा दिया उसे मैंने ज्यों की त्यों धर दिया। जायसी की भगवद्भक्ति में अहंकार के लिये स्थान नहीं था। इन्हें हम सदा एक विनयावनत जिज्ञासु के रूप में ही देखते हैं। इनके एक मात्र आश्रयदाता अमेठी के तत्कालीन महाराजा माने जाते हैं। अमेठी-दरबार में इनका प्रवेश इस प्रकार हुआ—एक बार इनका कोई शिष्य अमेठी मे जाकर इनका रचा हुआ नागमती का बारहमासा (पदमावत का एक प्रकरण) गा गाकर भीख माँग रहा था। लोगों ने उसे बहुत पसंद किया और उसे राजा साहब के पास ले जाकर उन्हें भी सुनवाया। राजा साहब को भी यह बहुत पसंद आया और खासकर उन्हें यह दोहा बहुत पसंद आया—

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय।
सूखि बेलि पुनि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ॥

इस शिष्य से पूछने पर मालूम हुआ कि यह मलिक मुहम्मद नाम के संत कवि की रचना है। राजा साहब ने तुरंत बड़े आदर और आग्रह से उन्हें बुलाया। जायसी वहीं रहने लगे। वहीं पदमावत की रचना भी पूरी हुई। कहते हैं कि अमेठी के राजा के कोई संतति नहीं थी और इन्हीं की दुआ से उनका वंश चला। तबसे इनकी प्रतिष्ठा उक्त दरबार में बहुत बढ़ गई। लोग इन्हें कोई असाधारण सिद्ध पुरुष समझकर दूर दूर से इनके दर्शनों को

आने लगे। इनका देहावसान होने पर कोट के सामने ही इनकी कब्र बनवाई गई, जो अद्यावधि वर्तमान है।

जायसी के ग्रंथ

'पदमावत' और 'अखरावट' नामक केवल दो ही ग्रंथ प्राप्त और प्रकाशित हैं। इनमें मुख्य पदमावत है जो अवधी में एक प्रबंध-काव्य है। ग्रंथ दोहा-चौपाइयों में है, और इसी के ढंग पर सौ वर्ष बाद गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरितमानस' की रचना की है।

जायसी की कविता (भाषा, रस, अलंकार आदि)

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। अवधी में इतनी बड़ी उत्कृष्ट और व्यापक प्रबंध-रचना सबसे पहले इन्हीं की मिलती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' की रचना के समय इनकी पदमावत को बहुत सी बातों में आदर्श बनाया होगा। कम से कम 'मानस' का बाह्य रूप और विशेषतः इसकी भाषा तो 'पदमावत' से बहुत मिलती-जुलती है। अंतर केवल इतना ही है कि 'मानस' में हम अवधी का परिमार्जित, सुसंस्कृत और सर्वथा साहित्यिक रूप देखते हैं। पदमावत में अवधी अपने ठेठ रूप में है और प्रायः ग्रामीणता लिए हुए है। जायसी उतने काव्य-कला-कुशल तो थे नहीं, पर यह तो मानना पड़ेगा कि जिस भाषा का प्रयोग उन्होंने किया है उस पर उनका पूरा अधिकार है। तुलसी की भाषा जो इतनी सुसंस्कृत या साहित्यिक कही जाती है उसका कारण है उनका संस्कृत का गंभीर पांडित्य। 'मानस' की चौपाइयों का माधुर्य, उनका ओज, तथा उनकी साहित्यिकता बहुत कुछ उनमे प्रयुक्त संस्कृत की कोमल कांत पदावली पर निर्भर करती है। जायसी में यही कमी है, या यों कहिए कि यही उनकी खूबी है। अवधी का स्वाभाविक माधुर्य जायसी की ही भाषा में प्रस्फुटित हो पाया है। यह कहना कठिन है कि तुलसी ने अपने चुने हुए संस्कृत के तत्सम

शब्दों या वाक्यांशों के आभूषण-भार से अपनी कविता की शोभा को सचमुच और प्रदीप्त करके दिखाया है या उसकी नैसर्गिक शोभा को ढँक दिया है। यों तो जायसी ने अपने काव्य में प्रायः सभी रसों का समावेश किया है, पर उनकी स्वाभाविक प्रकृति विप्रलंभ-शृंगार की ओर ही जान पड़ती है। संभोग-शृंगार, वीर और करुण में भी इन्हें अच्छी सफलता मिली है। यद्यपि इनका रस-वर्णन भारतीय कवि-परंपरागत प्रणाली के अनुसार ही हुआ है तथापि कुछ बातों में इसका ढंग सबसे निराला है। उर्दू कवियों के वियोग-वर्णन में प्रायः जो एक प्रकार की वीभत्सता पाई जाती है उसकी प्रचुरता पद्मावत में भी है, और शृंगार के संभोग-पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि वह बहुत परिष्कृत अथवा कोमल नहीं है। उसमें मिठास या प्रेम-निर्भरता की मात्रा इतनी अधिक हो गई है कि कुछ लोगों को उसमें ग्रामीणता या अश्लीलता की बू भी मिल सकती है। वीररस का वर्णन इनका सर्वत्र शृंगार की आड़ लिए हुए है और उसी के आधार पर स्थित जान पड़ता है। वीर के साथ ही उचित अवसरों पर रौद्र, भयानक और वीभत्स भी अपनी अपनी छटा दिखाते हैं। 'राजा बादशाह युद्ध खंड' में वीर और 'लच्मी समुद्र खंड' में भयानक रस का बड़ा सुंदर समावेश हुआ है। परंतु एक बार फिर कहना पड़ेगा कि यह सभी ग्रंथ के स्थायी रस 'शृंगार' के आधार पर स्थित है। ग्रंथ के स्थायी रस पर विचार करते समय एक बात और स्मरण रखनी चाहिए। यह सारा ग्रंथ एक प्रकार से अन्योक्ति के रूप में है। कवि ने अंत में स्पष्ट कर दिया है कि इसमें वर्णित नायक-नायिका के प्रेम को साधारण लौकिक प्रेम न समझकर साधक का ईश्वरोन्मुख प्रेम समझना चाहिए। इस दृष्टि से ग्रंथ का स्थायी रस शांत मानना पड़ेगा। इसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी जायसी ने अधिकतर कवि-

कुलागत पद्धति का ही अनुसरण किया है। इनके अलंकारों में सादृश्यमूलक अलंकारों का ही एक प्रकार से साम्राज्य है। यद्यपि अलंकारों के प्रयोग में उन्होंने अधिकतर भारतीय काव्य-पद्धति को ही आदर्श माना है तथापि स्थान स्थान पर फारसी कवित्व की भी झलक स्पष्ट है—विशेषतः करुण रस और विरह-वर्णन के अवसरों पर। अलंकारों का समावेश दो उद्देश्यों से होता है—प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने तथा भाव को प्रदीप्त करने के लिये। और भी उद्देश्य हो सकते हैं; पर मुख्य यही दो होते हैं। साथ ही इसके भावुक कवि अलंकारों के प्रयोग के समय इसका बड़ा ध्यान रखता है कि कहीं उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकार से रस के परिपाक में बाधा न पड़े। प्रायः लोग वर्णन को स्पष्ट करने के लिये ऐसी उपमा या उत्प्रेक्षा आदि रख देते हैं जिससे वर्णन तो एक प्रकार से स्पष्ट हो जाता है, पर साथ ही रंग में भंग भी हो जाता है। जायसी भी स्थान स्थान पर इस दोष के भागी हुए हैं। विरह-वर्णन के समय शृंगार को वीभत्स के आधारभूत करना इनके लिये साधारण बात है। नख-शिख-वर्णन के समय इनकी उपमा और उत्प्रेक्षाएँ—विशेषतः हेतूत्प्रेक्षाएँ—भिन्न भिन्न वर्णनीय अंगों की विशेषताओं का तो बहुत स्पष्ट परिचय देती हैं, पर साथ ही उपहासास्पद हो जाती हैं। शृंगार रस के लिये अलंकार भी वैसे ही होने चाहिएँ जिनसे सौंदर्य-भावना में व्याघात न पड़े। पर जायसी की उड़ान तो कहीं कहीं उपहासास्पद सी जान पड़ने लगती है। जो हो, पद्मावत एक सुंदर प्रबंध-काव्य है। इसमें कवि को ऐतिहासिक कल्पना के थोड़े से आधार पर एक बहुत बड़ी इमारत खड़ी करनी पड़ी है। किसी भी इमारत का सर्वांगसुंदर बनना असंभव है; और फिर जायसी के सामने कोई ऐसे आदर्श भी नहीं थे जिनसे वे कोई विशेष लाभ उठा सकते। 'मधुमालती', 'मुग्धावती', 'मृगावती' तथा 'प्रेमा-

वती' आदि कुछ प्रेम-गाथाओं का उल्लेख पदमावत में मिलता है, और उससे यह स्पष्ट है कि जायसी के पहले कुछ कवि इस प्रकार के प्रेमगाथा-काव्यों की रचना कर चुके थे। पर इनसे यह निष्कर्ष निकालना कि इन्हीं को आदर्श मानकर जायसी ने अपने ग्रंथ की रचना की होगी, भूल है। पहले तो उक्त गाथाओं में से 'मुग्धावती' और 'प्रेमावती' का अभी तक पता ही नहीं लगा। 'मधुमालती' और 'मृगावती' की खंडित प्रतियाँ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को मिली हैं। इनका जो भाग देखने में आया है उनसे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि जायसी ने अपनी प्रबंध-कल्पना में इनको आदर्श बनाया होगा। सारांश यह कि इतने विस्तृत और व्यापक रूप से एक प्रबंध-काव्य की रचना में जायसी का प्रयास बहुत कुछ मौलिक था। अब यहाँ पर देखना यह है कि इनको इस काम में कहाँ तक सफलता मिली है। किसी भी प्रबंध-काव्य की सफलता की विवेचना के पहले यह देखना चाहिए कि कवि का दृष्टिकोण क्या रहा है। क्या अपनी कथा के परिणाम द्वारा कवि कोई विशेष आदर्श स्थापित करना चाहता है अथवा उसका उद्देश्य पाठकों के सामने कथा के रूप में कोई सुंदर वस्तु उपस्थित करना है। यह तो हम तुरंत कह सकते हैं कि इस रचना में किसी आदर्श-विशेष को सामने रखकर उसे स्थापित करने के उद्देश्य से पात्रों का स्वाभाविक विकास अथवा घटनाओं का नैसर्गिक प्रवाह किसी खास दिशा की ओर नहीं मोड़ा गया है, और फिर जायसी भारतीय काव्य-परंपरा के प्राचीन आदर्श—अंत भले का भला और बुरे का बुरा—के भी कायल नहीं थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि इस कथा का अंत बड़ा करुण और अत्यंत दुःखांत है। सब आपत्तियों के टलने के बाद नायक-नायिका आदि सभी मुख्य पात्र मृत्युमुख में पतित होते हैं और

सारे फसाद की जड़ राघव चेतन या अलाउद्दीन ही का कोई परिणाम दुःखद या सुखद दिखलाना कवि ने आवश्यक नहीं समझा। और फिर कथा के इतने करुण अंत को कवि ने, उपसंहार में, एक विचित्र रूप से शांतरस में परिणत कर दिया है। पर्यवसान के समय कवि इस चातुरी से दृष्टिकोण को दार्शनिक बना देता है जिससे यह स्पष्ट भासित होने लगता है कि उसके मत से मनुष्य-जीवन का वास्तविक अंत दुःखमय नहीं, बल्कि सांसारिक माया-मोह से उदासीन और पूर्ण रूप से शांत होना चाहिए। इस धारणा का कारण यही है कि जहाँ कवि ने कथा के बीच बीच में नागमती और पद्मावती को प्रिय-वियोग में अत्यंत खिन्न और विचारपूर्ण दिखलाया है वहाँ प्रिय के निधन के अवसर पर और भी शोकपूर्ण करुण क्रंदन अपेक्षित था। पर ऐसा नहीं हुआ। हम देखते हैं कि रत्नसेन के मरने पर दोनों महिषियाँ घोर विलाप में रत न हो, इहलोक से उदासीन होकर, शांतिमय आनंद के साथ, मृत पति के साथ सती हो जाती हैं। यही हाल वीरगति को प्राप्त अन्य पुरुषों की स्त्रियों का भी दिखलाया गया है। सब कुछ शेष हो जाने पर अलाउद्दीन जब बड़ी बड़ी उम्मीदें बाँधता हुआ गढ़ में घुसा तो उसके सामने एक ऐसा दृश्य आया जिसकी उसे स्वप्न में भी आशा न थी। वह दृश्य इस लोक का नहीं था; उसके हृदय पर भी इस तत्त्व का गहरा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। सतियों की चिताओं में एक मुट्ठी भस्म उसने उठाई और दुनिया को उसी भस्म की भाँति झूठा समझा—

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाइ पिरिथिमी झूठी।"

कहते हैं, तब चेतन प्राणियों की तो बात ही निराली है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम कबीर को एक वास्तविक व्यक्ति समझते हैं; उनके जीवन से परिचित होना चाहते हैं। न तो हम उनको इतना स्वर्गीय अथवा ज्योतिर्घन समझते हैं कि उनको देखने से हम और भी अंधविश्वासी बनें, और न इतना काल्पनिक ही कि उनसे हमारा अथवा हमारे देश का कुछ संबंध ही न रहे। हम अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार भक्तों की भावना तथा पंडितों की कल्पना के बीच एक ऐसा सेतु बनाना अथवा उसका पता लगाना चाहते हैं जिसके आधार पर हम कबीर के वास्तविक जीवन को पार कर सकें। हम कबीर के जीवन के उन वृत्तों पर प्रकाश डालना अपना धर्म समझते हैं, जिनके कारण कबीर, कबीर बने।

प्रामाणिक ग्रंथ

कबीर के जीवन पर विचार करने के लिये जो सामग्री उपलब्ध है वह इतनी अपर्याप्त और संदिग्ध है कि उस पर बिना मीन-मेष के विश्वास नहीं किया जा सकता। हम 'नवरत्नकारों' के इस मत से—"हमको यह समझ पड़ता है कि उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपिबद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिक्षाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं। हमको समझ पड़ता है कि जब तक इन महात्मा का एक भी ग्रंथ विद्यमान है, तब तक इनकी वास्तविक शिक्षाएँ संसार से हट नहीं सकतीं[1]"—सहमत नहीं हो सकते। हमारी दृष्टि में कबीर तथा कबीर-पंथ विरोधी शब्द हैं। कबीर ने जिन बातों का विरोध किया वे ही बातें कबीर-पंथ के स्तंभ हैं। कबीर की गोष्टियों और बीजक के प्रतिपाद्य-विषय, भक्त-रचित होने पर भी, एक नहीं हैं। राम, नाम, सत्य-नाम, सत्यकबीर आदि शब्दों की एकता तभी स्वीकृत हो सकती है

(१) हिंदी-नवरत्न, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ११५।

जब संसार से भिन्नता का नाम ही मिट जाय। यदि राम और नाम में कुछ भी अंतर न होता तो राम[1] का बहिष्कार और नाम का स्वागत न किया जाता। हमारी समझ में तो कबीर 'दास' और कबीर 'साहब' में भी असाध्य अंतर है। एक देशी है तो दूसरा विदेशी, एक अपना है तो दूसरा पराया, एक में प्रपत्ति का भाव निहित है तो दूसरे मे शासन की संरक्षा। सक्षेप मे, कहने का आशय यह है कि कबीर के अध्ययन तथा उनके जीवन के परिचय के लिये यह परम आवश्यक है कि उनके वचनों का समुचित चयन, सावधानी के साथ, किया जाय। यह असाध्य अथवा असंभव होने पर भी करणीय है। जिस ढंग से, कबीर की ओट में, मनमानी बातों का प्रतिपादन हिंदी-साहित्य में हो रहा है, उसका प्रधान कारण हमारी उक्त उपेक्षा है। जो लोग प्रतिवर्ष 'कबीर' सुनते हैं, बात बात में कबीर के नाम पर 'कविता' करते हैं, 'कहैं कबीर' के आगे कुछ भी जोड़ लेते हैं, वे इस बात को न जाने किस न्याय से संगत समझ सकते हैं कि कबीर के अध्ययन के लिये सब कुछ प्रमाण है। स्वयं कबीरदास तथा अन्य संतों ने इस प्रकार के कवियों को कितना कोसा है इसका निदर्शन हमने "कह कबीर कब लौं जियै जूठा पत्तल चाट" नामक लेख[2] में किया है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि "शेर बनावै कबीर-

---

(१) राधास्वामी संघ की ओर से जो 'बानियाँ', विशेषतः कबीर की, प्रकाशित है उनमे 'राम' का बहिष्कार किया गया है। राम एवं नाम के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि राम नामी हो जाते है और नाम बिना नामी के व्यर्थ शब्द मात्र रह जाता है। नाम की उपासना का रहस्य सगुण का परिचायक है, निर्गुण का कदापि नहीं। राम एवं नाम के विभेद का महत्त्व न समझने के कारण पूरा भ्रम चल पड़ा है। कबीर के राम के विवेचन मे इस पर विचार किया जायगा। इस लेख से इसका अधिक संबंध नहीं।

(२) सरस्वती पत्रिका, सन् १९३२ जून, पृष्ठ ६८०।

दास ढेर बनावै कविता (कवि)" अक्षरशः सत्य है। जो लोग आँख-कान खोलकर संसार में चलते हैं उनको इस विषय में कभी संदेह नहीं हो सकता। इस समय न तो इसका अवसर है और न अवकाश ही कि कबीर के मूल वचनों का प्रक्षिप्त रचनाओं से उद्धार किया जाय। यहाँ पर तो हम इतना ही कहकर संतोष करते हैं कि प्रामाणिकता की दृष्टि से 'कबीर-ग्रंथावली' को ही श्रेष्ठ समझना संगत जान पड़ता है। ग्रंथ साहब के कबीर-संबंधी पद्यों तथा दादूपंथियों में प्रचलित कबीर के पद्यों का मेल उक्त ग्रंथावली के पद्यों से भली भाँति हो जाता है। भाषा में कुछ भेद अवश्य पड़ता है, किंतु वह सधुक्कड़ी भाषा में और भी गौण है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस समय हम अन्य ग्रंथों की उपेक्षा करेंगे। जहाँ तक हो सकेगा कबीर के जीवन के संबंध में प्रचलित प्रवादों का परितः परिशीलन करेंगे; किंतु प्रमाण अधिकतर उक्त ग्रंथावली का ही मान्य होगा।

कबीरदास के जन्म-काल[1] के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद का मुख्य कारण यह है कि लोग कबीर पर विचार करते समय इस बात को निश्चित मान लेते हैं कि वे रामानंद के शिष्य और उनके अन्य चेलों के समकालीन थे। 'की' महोदय ने जो कबीर का जन्मकाल माना

जन्म-तिथि

(१) कबीरदास के समय के विषय में नाना विद्वानों के मतों का समालोचन आवश्यक नहीं प्रतीत होता। फर्कुहर, ग्रियर्सन, कारपेंटर की तथा अन्य पश्चिमीय पंडितों एवं भांडारकर प्रभृति भारतीय विद्वानों की सम्मतियों के समीक्षण में समय नष्ट करना संगत नहीं कहा जा सकता। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कोरे अनुमान के आधार पर वाद-विवाद करने से अधिक हितकर कबीर के जीवन का सामान्य परिचय प्राप्त करना है। अन्य मतों का खंडन उतना ही किया गया है जितना प्रसंग-वश आ गया है। विशेष ध्यान उनके जीवन-वृत्त पर ही दिया गया है।

है उसी को पश्चिम के अधिकत्तर पंडित मान्य समझते हैं। परंतु पंडित रामप्रसाद त्रिपाठीजी[1] ने कबीर के समय के विषय में जो विवेचन किया है वह उक्त विद्वानों के प्रतिकूल पड़ता है। की[2] महोदय का एक मात्र प्रमाण यही है कि उक्त काल मान लेने से कबीर के विषय में जो प्रवाद प्रचलित हैं उनकी संगति बैठ जाती है। त्रिपाठीजी का कथन है कि कबीर का आविर्भाव कुछ और भी पहले संभव है। हिंदी के अधिकांश विद्वानों को कबीर का जन्मकाल वही मान्य है जो कबीर-पंथियों में धर्मदास-प्रतिपादित कहा जाता है। कबीर-पंथियों में कबीर के जन्म के विषय में यह पद्य प्रचलित है—"चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाठ ठए। जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥ घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरसें झर लाग गए। लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए॥" इस पद्य के आधार पर पंडित अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध',[3] मिश्रबंधु[4] तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी[5] जी कबीर का जन्म-समय सं० १४५५ समझते हैं। किंतु कबीर-ग्रंथावली[6] में यह सिद्ध कर दिया गया है कि इस मत में कुछ दोष है। जिस समय कबीरदास का आविर्भाव हुआ उस समय सं० १४५५ था नहीं, प्रत्युत बीत चुका था। अस्तु, कबीर की जन्मतिथि "१४५६ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को ही पड़ती है।" हमको भी यही तिथि मान्य है। आगे चलकर इसकी पुष्टि होगी।

---

(१) हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका, सन् १९३२ ई०।
(२) Kabir and his followers, F. E. Keay, P. 27
(३) कबीर-वचनावली, पृष्ठ ५।
(४) नवरत्न, पृष्ठ ५०४।
(५) कविता-कौमुदी, पृष्ठ १३३।
(६) कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १८, १९।

जन्मकाल की अपेक्षा कबीर का जन्मस्थान एक प्रकार से निश्चित समझा जाता था। पर विद्वानों को इसमें भी कुछ संदेह उत्पन्न हो गया है। कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर का जन्मस्थान काशी नहीं, संभवतः मगहर था। उनके पक्ष में ग्रंथ साहब का यह पद्य है—

जन्मस्थान

"पहिले दर्सन मगहर पायो, फुनि कासी बसे आई।" उनके विचार में "फुनि कासी बसे आई" से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर कहीं अन्यत्र से आकर काशो में बसे, वहाँ के वास्तविक निवासी नहीं थे। उनका यह भी कथन है कि यद्यपि प्रस्तुत पद्य में यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि उनका जन्मस्थान मगहर था, तथापि मगहर में जुलाहों की अधिकता और इस पद्य के 'दर्सन पायो' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कबीर का जन्मस्थान मगहर था। इस विषय की मीमांसा करते समय उक्त विद्वानों ने कुछ अधिक सावधानी से काम नहीं लिया, नहीं तो वे सहसा इस प्रकार न मान बैठते। कबीर कहते हैं—"तोरे भरोसे मगहर बसियो। मेरे तन की तपनि बुझाई॥ पहिले दर्सन मगहर पायो। फुनि कासी बसे आई॥ जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी॥"[1] प्रस्तुत अवतरण से यह अवगत हो जाता है कि कबीर इस समय मगहर में विराजमान हैं और वहीं पर उक्त पद रच रहे हैं। यदि यह ठीक है तो 'फुनि कासी बसे आई' के स्थान पर 'फुनि कासी बसे जाई' का प्रयोग ही स्वाभाविक है। मेकालिफ साहब ने प्रकृत पद्य का अनुवाद इस प्रकार किया है—"I first saw you at kāsi and then came to reside at Magahar" अर्थात् 'मैंने प्रथम आपको काशी में देखा और फिर मगहर में निवास के लिये आया"। हमारी समझ में मेकालिफ साहब ने जिस पाठ को

(१) कबीर-ग्रंथावली, पृ० २९६

प्रामाणिक समझा है वह यह है—"पहले दर्सन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई।" अब इस पाठ मे न तो 'आई' का झगड़ा है, न प्रचलित प्रवाद की उपेक्षा। इसका ठीक अर्थ यह है कि कबीर-दास को साक्षात्कार काशी में हुआ था; और वे फिर मगहर में जाकर बस गए थे। कबीरदास को काशी छोड़ने का क्षोभ था, किंतु वे काशी और मगहर को मुक्ति की दृष्टि से समान समझते थे। एक बात और है। इस मत के लोग कबीर को जन्म से मुसलमान जुलाहा मानते हैं। जहाँ तक हमें इतिहास का पता है उस समय मगहर में मुसलमानों का निवास न था। इसके अतिरिक्त की[1] साहब ने बनारस गजेटियर के आधार पर आजमगढ़ के बेलहरा को भी कबीर का जन्मस्थान कहा है, जिसको आप भी संगत नहीं समझते। पुष्ट प्रमाणों के अभाव मे उक्त मत मान्य नहीं हो सकते। निदान, काशी ही कबीर का जन्मस्थान है। न जाने कितनी बार कबीर ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है। यही मत परं-परागत भी है।

कबीर के प्रकट होने के विषय मे कबीर-पंथियों का जो कथन है उसका कुछ आभास हमको मिल चुका है—"लहर तलाव में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए।"

अनेक मत

इसका प्रतिपादन घट रामायण[2] के इन पद्यों से—"खुद कबीर अविगति से आया। पुरइन पात वो भया अकाया॥" तथा "कलजुग नाम कबीर कहाए। पुरइन सेत पान पर आए॥ कासी नगर कीन्ह का काया। नूरा नीमा के घर आया॥ बालक जानि चीन्ह नहि पाए। कई दिवस अस बीति सिराए॥"—हो जाता है। कबीर-पंथियों के कथनानुसार कबीरदास का आवि-

---

(१) Kabir and his followers, P. 28.

(२) तुलसी साहब, घट रामायण, पृष्ठ १२२।

भाँव लहरतारा के तालाब में कमल के पत्ते पर हुआ। यह एक ऐसी बात है जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। स्वयं कबीर की धारणा इस प्रकार के अवतारों के विरोध में थी। कबीर कहा करते थे "जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तौ आन बाट ह्वै काहे न आया।" इसका तात्पर्य यह नहीं था कि जो लोग बड़े कहे जाते हैं उनके आने का बाट भिन्न है। कबीर की दृष्टि में सबके आने का मार्ग एक ही था, और इसी आधार पर वे कहा करते थे कि वस्तुतः सब लोग एक ही हैं। पर कबीर के उपासकों को यह बात प्रिय न लगी। उन्होंने सोचा, आदिपुरुष को जीवन-मरण के कष्टों से मुक्त करने के लिये उनके जन्म को अलौकिक बना दो। उनको कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति याद थी। उसी का संकेत पाकर उन्होंने कबीरदास को जन्म के सामान्य कष्ट से मुक्त कर दिया। कुछ लोगों ने विचार किया कि कबीर वस्तुतः लहर-तालाव में ही पाए गए थे। इसको तो स्वयं कबीर-पंथी भी स्वीकार करते हैं। किंतु इसका जो कारण वे लोग बतलाते हैं वह अंध-विश्वास का फल है। कबीर के लहर-तालाव में मिलने का एक-मात्र कारण यही हो सकता है कि वह बालक जारज था। कबीर के संस्कार पुनीत थे, अतः उनका जन्म किसी विधवा ब्राह्मणी से अवश्य था। जिन लोगों में श्रद्धा थी, उन लोगों ने इसको आशीर्वाद का परिणाम समझा और जो लोग हेतुवादी थे उन्होंने इसे अन्यथा समझकर जिज्ञासा का परितोष कर दिया। नाभादास जैसे भक्तों की दृष्टि में गुरु-प्रसाद से सब कुछ संभव था, अतः कबीर का जन्म 'कर' अथवा अँगूठे से हो गया और वे कर-वीर अथवा कबीर के नाम से प्रख्यात हुए। जो लोग किसी बात को सामान्य रूप से मान लेते हैं उनकी दृष्टि में कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे। ईश्वर ने उनको नीच के घर इसलिये भेजा कि उनकी छत्र-छाया में

नीच भी ऊँच बन जायँ। इस प्रकार कबीर के माता-पिता के विषय में अनेक मत हैं। इन मतों में किसी को सत्य सिद्ध करना आसान नहीं, भारी काम है। कुछ लोग तो इसको असंभव ही समझते हैं।

माता

कबीर के वचनों में 'माई' शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है। यह कहना अत्यंत कठिन है कि इस शब्द का अर्थ किस स्थल पर वस्तुतः क्या है। फिर भी कुछ स्थल ऐसे हैं जिनके विषय मे यह कहा जा सकता है कि उनका तात्पर्य माया से नहीं, माता से है। इन्हीं स्थलों के आधार पर कबीर की माता के विषय में कुछ पता लगाने की चेष्टा इस समय बलवती हो रही है; अतः हम इन्हीं पर विचार करना उचित समझते हैं। कबीर का कथन है "जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह॥ ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूँ जीवैं खुदाइ। कहै कबीर सुनहु री माई, पूरणहारा त्रिभुवन-राई॥" एक दूसरे पद्य में कबीर अपनी माता से कहते हैं "को बीनैं प्रेम लागो री, माई को बीनैं। राम रसाँइण माते री, माई को बीनैं॥ टेक॥ पाई पाई तू प्रतिहाई, पाई की तुरियां बेचि खाई री, माई को बीनैं॥" कबीर की माता एक स्थल पर झंखती हैं "हमरे कुल कौने राम कह्यो? जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो।...घर के देव पितर को छोड़ी गुरु को सबद लियो।" कबीर का एक अत्यंत प्रचलित 'शब्द', जो उनके जीवन के संबंध मे प्रायः उद्धृत किया गया है, यह है—"मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहिं रघुराई॥ तनना बुनना सब तज्यो है कबीर। हरि का नाम लिखि लियो सरीर॥ जब लग तागा बाहउ बेही। तब लग बिसरै राम सनेही॥ ओछी मति मेरी जाति जुलाहा। हरि का नाम-लह्यौ मैं लाहा॥ कहत कबीर सुनहु मेरी

माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई॥" इनके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी 'माई' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ माता हो सकता है; पर उससे नवीन तथ्यों का पता नहीं चलता। इसलिये उसको छोड़ देते हैं।

उपर्युक्त अवतरणों में कतिपय शब्द बड़े ही महत्त्व के हैं। 'ए लरिका' पर विचार हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ पर हमको केवल उन अंशों पर ध्यान देना है जिनका कबीर की माता से संबंध है। कबीर की माता को कबीर की चिंता है। इसी चिंता का विश्लेषण हमारा मुख्य ध्येय है। कबीर की माता को केवल पेट की चिंता नहीं है। उसको तो इस बात की भी सनक सवार है कि कबीर राम-नाम न ले। यह काम उसके कुल की मर्यादा के प्रतिकूल है— "हमरे कुल कौने राम कह्यो ?" इतना ही नहीं, वह झुँझलाकर गाली तक दे बैठती है—"जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो।" जिस पुत्र की उसे चिंता है उसी को वह इस प्रकार अनिष्ट कह रही है। इसका कारण क्या है ? जब से कबीर ने राम की माला ली तभी से उसको सुख नहीं मिला। कबीर भी उसके इस काम से संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं "पाई[1] पाई तूँ पुतिहाई", तुझको पुत्र उत्पन्न करने का फल मिल गया। एक तो यह कि तू संसार में इतना निरत रहती है, सुख की इतनी लिप्सा तुझमें है कि तू अब भी दुःख उठा रही है, ममता अब भी तुझको सता रही है। दूसरे यह कि तूने भक्त उत्पन्न किया है, अतः तू धन्य है; तुझको इसका फल मिल गया। माता का पुत्रवती होना तभी सफल है जब उसका पुत्र भगवद्भक्त हो। विचारणीय प्रश्न

(मार्जिन में: चचनी-माता)

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ९१

केवल यही है कि कबीर का राम-नाम कहना क्यों उनके अथवा उनकी माता के कुल की मर्यादा के प्रतिकूल है ? उनके कुल में किसी ने राम-नाम क्यों नहीं कहा ? इस प्रश्न का सहज समाधान यही हो सकता है कि कबीर अथवा उनकी माता यवन-जुलाहा-कुल की थी, जिसके कुल में इसलाम के खुदा या पैगंबर साहब का नाम मंगलप्रद था, काफिर राम का नहीं। तो क्या कबीर नीमा के औरस पुत्र थे ? प्रमाण तो इसी पक्ष में अधिक हैं।

यदि कबीर नीमा के औरस पुत्र थे तो नीरू या नूरअली को उनका जनक मान लेने में कुछ विशेष आपत्ति नहीं है। कतिपय

पिता

विद्वानों ने मुसलमानों के इस मत को उचित समझा है कि कबीर नीरू तथा नीमा के औरस पुत्र थे। मुसलमान कबीर-पंथी इसी मत का प्रचार करते हैं। अनुसंधान के आधार पर लिखनेवाले मुसलमानों का मत औरों से भिन्न नहीं है। जिनको अन्वेषण करना है वे सहसा किसी बात को सिद्ध नहीं मान सकते; उनको पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, कोरे अनुमान की नहीं। हम स्पष्ट कह देना अनुचित नहीं समझते कि इस विषय का दृढ़ प्रमाण एक भी उपलब्ध नहीं है जो यह सिद्ध कर दे कि कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे। हमारी यह धारणा है कि कबीर के अध्ययन से यही मत साधु सिद्ध होता है। 'ग्रंथावली' मे कतिपय स्थल इस ढंग के भी हैं कि उनके आधार पर कबीर किसी गोस्वामी के पुत्र कहे जा सकते हैं और अहमदशाह[1] तथा की महोदय उसका प्रतिपादन भी कर सकते हैं। कबीर स्वयं कहते हैं[2] —"पिता हमारो बड़ गोसाईं। तिसु पिता पहि हौं क्यों करि जाई ? सतिगुरु मिला ता मारग दिखाया।

(१) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० २८।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३०९।

जगत पिता मेरे मन भाया ॥ हौं पूत तेरा, तू बाप मेरा । एकै ठाहरि दुहा बसेरा ॥" इस वहु गोसाईं को उक्त महानुभाव गोस्वामी अष्टानंद का वाचक समझकर कबीर को उनकी संतान कह सकते हैं। नीमा गोस्वामीजी की चेली तथा कबीरदास की जननी सिद्ध हो सकती है और कबीर नूरअली के 'तरायन' पुत्र कहे जा सकते हैं। पर जब तक अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तब तक कबीर को उक्त दंपती का औरस पुत्र मानना ही न्यायानुमोदित है।

कबीर ने अपने को बार बार जुलाहा कहा है। विचारदास जैसे विचक्षण भक्त इसका अन्यथा अर्थ करते रहें; कबीरदास ने स्पष्ट रूप से अपनी जाति को जुलाहा तथा कोरी कहा है। इसमें संदेह की जगह नहीं।

जुलाहा

कबीर ने 'पूरब जनम' का जो राग अलापा है वह अवश्य ही चिंतनीय है। (आपका कथन[1] है—"पूरब जनम हम बाँम्हन होते, वोछे करम तप हीना। रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना।" इसका तात्पर्य यह नहीं कहा जा सकता कि कबीरदास अपने प्रथम जीवन के संबंध में प्रकृत वाक्य कह रहे हैं। उनके कहने का आशय यह है कि ब्राह्मणों को अपने वंश का ध्यान और भी इस दृष्टि से रखना चाहिए कि उनको रामदेव की सेवा मात्र करनी है, यदि इस बार तनिक भी चूके तो फिर नीचे गिर पड़ेंगे।) कबीरदास इस पद में भी अपने को काशी का जुलाहा ही कहते हैं "तूँ बाँम्हन मैं कासी का जुलाहा।" अवश्य ही कबीर मुसलमान 'जुलाहा' थे। कबीर वस्तुतः नाम था, उपनाम नहीं जैसा कि विल्सन[2] साहब समझना चाहते हैं। उस समय मुसलमान हिंदी

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७२।
(२) रिलिजस सेक्ट्स आफ दी हिंदूज पृ० ६९ (नोट)।

में हिंदू उपनाम रखते थे। हिंदू फारसी या अरबी उपनाम हिंदी-कविता मे कभी नहीं रख सकते थे। आज-कल भी इसका अभाव है। अस्तु, आपका कबीर को हिंदू सिद्ध करना निराधार है। इस विषय मे माल्कम साहब का मत ही मान्य है। कबीर ने अपनी जाति को केवल जुलाहा ही नहीं कहा है, उसको कमीना भी कहा है[1] "जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहूँ पतीजै नाहीं।... ..आइ हमारै कहा करैगी, हम तो जाति कमीनाँ॥" इस पद मे कबीर ने अपनी जाति तथा नाम को इतना स्पष्ट कर दिया है कि उसके विषय में विवाद करना स्वयं कबीर का अविश्वास करना है। जो[2] लोग 'जुलाहा' को सर्वत्र प्रतीक सिद्ध करना चाहते हैं अथवा 'कबीर' को उपनाम मानते हैं, या कबीर, कबीरा, दासकबीर, संत-कबीर आदि का प्रयोजन भिन्न समझते हैं, उनको एक बार इस विषय पर फिर विचार कर लेना चाहिए; और कबीर के समकालीन रैदास के इस वचन[3] का रहस्योद्‌घाटन करना चाहिए "जाके ईद बकरीद कुल गऊ के वध करहि, मानियहिं शेख शहीद पीरा। जाके बाप ऐसी करी पूत ऐसी धरी तिहु रे लोक परसिध कबीरा।" रैदास ने स्पष्ट कह दिया है कि कबीर के कुल में शेख, शहीद, पीर की प्रतिष्ठा थी, ईद-बकरीद मनाई जाती थी, गो-भक्षण भी होता था। उनके पिता भी ऐसा करते थे। हम पहले देख चुके हैं कि कबीर के कुल में किसी ने राम नाम नहीं कहा था। निदान हमको यह मानना पड़ता है कि कबीर मुसलमान-संतान थे।

कबीर ने अपने विषय में जो कुछ कहा है उसका संक्षिप्त परिचय मिल गया। अब हमको यह देखना है कि उनके अनुयायी

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २७०।

(२) विचारदास, बीजक, भूमिका पृ० ४०-४१।

(३) ग्रंथ साहब पृ० ६६८।

संतों का, इस विषय में क्या मत है। 'अमर-सुख-निधान' नामक ग्रंथ में कबीर को धर्मदास ने प्रायः 'जिंद' नाम से संबोधित किया है। कबीर की बातों से चकित होकर आप विचार करते हैं[1]—"राम नाम निज प्रान अधारा। सो यह जिंद मेटि सब डारा॥ कीजै कहा जिंद को भाई? जाति म्लेच्छ कथै चतुराई।" संपादक महोदय ने जिंद का अर्थ 'बंधोगढ़ निवासी बनिये' माना है; जो सर्वथा अमान्य है। कबीर इस पद में जिंद और म्लेच्छ कहे गए हैं। एक दूसरे पद्य में धर्मदास[2] ने कबीर से कहा है "तुम ले जावो जिंद जी, हम करिवै फरहार। लंघन न करिहौ पीर जी, मानौं वचन तुम्हार॥" इस पद्य में कबीर जिंद तथा पीर माने गए हैं; अन्य स्थल पर कबीरदास[3] धर्मदास से कहते हैं "तुम तो भक्त हम जिंद फकीरा। सुधि करि देखो सत मत धीरा।" इसमें कबीर ने अपने को 'जिंद फकीर' कहा है। इस प्रकार कबीर म्लेच्छ, फकीर, जिंद और पीर सिद्ध होते हैं। फकीर और पीर शब्द का प्रयोग साधु और गुरु के अर्थ में हिंदुओं के लिये भी मिलता है; अतः इनके आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कबीर मुसलमान थे और सूफी मत का प्रचार करते थे। किंतु, इन स्थलों पर इन शब्दों का प्रयोग इस ढंग से किया गया है जिससे यही ध्वनित होता है कि कबीर इसलाम के अंतर्गत समझे जाते थे। हमारे इस कथन का प्रतिपादन म्लेच्छ तथा जिंद शब्द भली भाँति कर देते हैं। म्लेच्छ का प्रयोग मुसलमानों के लिये आज भी प्रसिद्ध है। रहा जिंद शब्द, उसके विषय में हमारी धारणा है कि यह 'जिंदीक' का रूपां-

(१) धर्मदासजी की शब्दावली जीवन-चरित्र पृ० ४।
(२) " " " पृ० ५।
(३) " " " पृ० ६।

तर है, जिसका अर्थ होता है स्वतंत्र विचारवाला। मुसलमानों में जो 'किताब' के पाबंद न थे, आजाद तबीयत के थे, वे जिंदीक कहे जाते थे। यदि कबीर मुसलमान न होते तो उनको काफिर की उपाधि मिलती, जिंद की नहीं। उक्त संवाद का परिणाम यह हुआ[1]—"मेरे मन बसि गए साहब कबीर॥ हिंदू के तुम गुरू कहाओ मुसलमान के पीर।" स्पष्ट है कि कबीर धर्मदास की दृष्टि में पहले म्लेच्छ थे, फिर धीरे धीरे समर्थ साहब एवं सत्पुरुष बन गए:—"कलिजुग प्रगट कबीर, काल को देखा जोरा। किए कासी अस्थान, आप भए बंदी छोरा।"

संतों का मत

कबीर को मुसलमान समझने की परंपरा किस प्रकार चलती आ रही है, इसका भी कुछ निदर्शन वांछनीय है। हमने यह देख लिया कि अमर सुख निधान, जिसको लोग कबीर का ग्रंथ समझते हैं, तथा धर्मदास, जो उनके समकालीन शिष्य थे, कबीर के विषय में किस सत्य का प्रतिपादन करते हैं। अब हमको यह विचार करना है कि अन्य संतों ने इस विषय में क्या कहा है। यह स्मरण रखने की बात है कि जब से भगवान् की भावना पतित-पावन के रूप में प्रचलित हुई तब से भक्तों ने पापों की सनद बटोरना आरंभ कर दिया। ऐसी परिस्थिति में यदि कबीर किसी विधवा की संतान होते तो इस प्रकार के भक्त उनको नजीर के रूप में पेश अवश्य करते। स्वयं कबीर को कभी इस बात की चिंता नहीं हुई कि वे पिता किसको कहें। उनकी समझ मे तो यह बात नहीं आती थी कि "वेश्या का पूत पिता काको कहै।" कहने का तात्पर्य यह कि कबीर को संत-संप्रदाय भी मुसलमान या संत-गुरु के रूप मे याद करता आ रहा है,

---

(१) धर्मदासजी की शब्दावली जीवनचरित्र पृ० ७९।

हिंदू या जाग्ल के रूप में नहीं। चरनदास[1] का कथन है "दास कबीरा जाति जुलाहा, भए संत उपकारी।" तुलसी[2] साहब का कहना है "कासी नगर कीन्ह कर काया। नूरा नीमा के घर आया।" तुकाराम[3] तो कबीर को शुद्ध मुसलमान मानते हैं। यह तो रही पुराने संतों की बात। आजकल भी ऐसे संतों की कमी नहीं है जो कबीर को मुसलमान मानते हैं। शिवव्रत लाल[4] का कहना है "कबीर साहब नूरा नामी मुसलमान जुलाहे के घर में प्रगट हुए थे। नूरा की स्त्री का नाम नीमा था।...अव्वल तो वे मुसलमान थे; और मुसलमानों में भी निहायत रजील कौम में से थे।" प्रस्तुत अवतरणों के आधार पर कबीर को मुसलमान मान लेने में किसी भी अभिज्ञ को आपत्ति न होगी। वस्तुत: कबीर तन से मुसलमान, मन से मुक्त और विचार से परमहंस थे[5]।

गुरु

कबीर के गुरु अथवा पीर कौन थे? इन्होंने उनसे किस समय दीक्षा ली? गुरु-शिष्य का परस्पर क्या संबंध रहा? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान सहसा नहीं किया जा सकता। मुसलमान कबीर-पंथियों का कथन है कि कबीर शेख तकी के मुरीद थे। हिंदू कबीर-पंथी कहते हैं कि कबीर को गुरु करने की आवश्यकता नाममात्र को पड़ी। कबीर साहब तो स्वयं सर्वज्ञ थे, गुरु की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये आपने किसी प्रकार रामानंद को गुरु बना लिया। अधिकतर विद्वानों की दृष्टि में स्वामी रामानंद जी ही कबीर के गुरु थे।

---

(१) चरनदासजी की बानी पृ० ८०।
(२) घट रामायण पृ० १८६।
(३) मरहठा मिस्टिसिज्म पृ० २२६।
(४) सुरति शब्दयोग पृ० ३२, ३३ दिबाचा।
(५) ग्रंथ साहब पृ० ६३८।

स्वामीजी ने कबीर को मंत्र-दीक्षा दी थी या कबीर ने उनके 'राम नाम कह' को ही मंत्र-दीक्षा समझ लिया था ? इसका विवेचन करना अब तक आवश्यक नहीं समझा गया। इस बात पर भी अभी तक उचित ध्यान नहीं दिया गया है कि कबीर के राम यदि आरंभ में रामानंद के राम थे तो किस प्रकार अंत में एक विलक्षण राम बन गए। सारांश यह कि कबीर के गुरु का प्रश्न अनुसंधान की दृष्टि से अभी अछूता है। कुछ लोग कह सकते हैं कबीर रामानंद के शिष्य थे, कबीर ने स्वयं इसको स्पष्ट कर दिया है[1] "कासी मे हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए। समरथ का परवाना लाए हंस उबारन आए"। उक्त महानुभावों से हमारा यही नम्र निवेदन है कि हम इसको कबीर की रचना मानने मे असमर्थ हैं। हमारी दृष्टि में, इस पद्य में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि इस पद्य का प्रसंग क्या है और इससे किस तथ्य का प्रतिपादन होता है। इससे संदेह नहीं कि इस पद्य में इसलाम और हिंदू मत की खिचड़ी पकी है पर उससे यह कबीर-रचित नहीं हो सकता। यह तो किसी भक्त शिष्य की करतूत है जो गोरख को घटाने के लिये की गई है। कबीर इस स्थल पर अपना परिचय तो दे रहे हैं, परंतु परिचय देने का जो ढंग है वह कबीर का नहीं है। ग्रंथावली में यह पद्य नहीं है। यह पद्य उस समय का है जब कबीर व्यक्ति-विशेष न रहकर कुछ और ही बन गए थे। 'प्रगट होने' का प्रयोग संत-समाज में उत्पन्न होने के अर्थ में होता है। यह सर्वव्यापी अंतर्यामी परमात्मा तथा उसी के अंश का प्रभाव है, इसलाम के खुदा का नहीं। 'समरथ का परवाना लाना' इसलाम का 'पैगाम' लाना है, अवतार लेना नहीं। यहाँ तो परमात्मा स्वयं अवतार लेते हैं। परवाना तो केवल यमराज भेजते हैं जिसके वाहक यमदूत कहे जाते

(१) कबीर-वचनावली पृ० १२, १८७।

हैं, महात्मा नहीं। संतों ने भी कबीर के 'जुग जुग' आने की बानगी ली है, उनके परवाने की नहीं। कबीर-पंथियों में जो परवाना चलता है वह कबीर की भक्ति का परवाना है, 'समरथ' का नहीं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह नहीं कि रामानंद कबीर के गुरु नहीं थे। इसका आशय यह है कि यह विषय विवाद-ग्रस्त है। इतिहास के आधार पर विचार करने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि उक्त महानुभावों में दोनों का समय अनिश्चित है। फिर भी इतिहास की दृष्टि से यह अनुचित नहीं सिद्ध हो सकता। इतिहास को अभी तटस्थ ही समझना चाहिए। स्वयं कबीर के वचनों से प्रमाण-संचय करना यथार्थ होगा। कबीर-ग्रंथावली के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि उसमें स्वामी रामानंद का नाम नहीं आया है। शुक, प्रह्लाद, ध्रुव नारद आदि प्राचीन भक्तों को जाने दीजिए, जयदेव तथा नामदेव का नाम लिया गया है। कबीर का कथन है[1]:—

रामानंद की उपेक्षा

"जागे सुक उधव अक्रूर, हणूवंत जागे लै लँगूर॥ संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामां जैदेव॥" जहाँ तक हमें स्मरण है कबीर-ग्रंथावली में एक भी पद्य ऐसा नहीं आया है जिसमें किसी भी वैष्णव आचार्य का नाम आया हो। कबीर काशी में रहते थे। प्रत्येक आचार्य के शिष्य काशी में आते, शास्त्रचिंतन तथा शास्त्रार्थ करते थे। फिर भी कबीर उनके विषय में मौन क्यों हैं। शंकर का नाम आप लेते हैं, पर भक्तिमार्ग के जीवनदायक रामानुज का ध्यान नहीं रखते। इस दशा में यदि स्वामी रामानंद का नाम ग्रंथावली में नहीं मिलता है तो आश्चर्य की बात नहीं है। ग्रंथावली में वैष्णव शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है, साकत (शाक्त) की भी कमी नहीं है, यदि अभाव है तो शैव का। संभवतः इसी की पूर्ति

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २४

शंकर कर रहे हैं। कबीर स्वीकार करते हैं[1] "मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णव एक राम। को है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥" इस अवतरण से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर का वैष्णव मत से संबंध था; उसको अपना साथी समझते थे। यह साथ सामान्य न था। आपकी दृष्टि में[2] "कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया वैष्णव पूत। राम सुमिरि निरभै हुवा, सब जग गया मऊत॥" तो क्या आप वैष्णव थे? क्यों नहीं? "मेरी जिह्वा विष्णु, नयन नारायण, हिरदै बसहि गोविंदा॥"[3] इससे पुष्ट प्रमाण और क्या दिया जा सकता है?

गुरु रामानंद

अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उसके आधार पर हम यह निष्कर्ष निस्संकोच निकाल सकते हैं कि कबीर अपने मत को वैष्णव-मत से अधिक भिन्न नहीं समझते थे। हमारी दृष्टि में कबीर ने जो उक्त आचार्यों की उपेक्षा की है उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि एक ओर तो उन सभी मतों का समावेश वैष्णव शब्द में हो जाता है और दूसरी ओर उनकी प्रतिष्ठा भी बनी रहती है। कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव कितना गहरा पड़ गया था! इसका पता कुछ लगा लेना संगत जान पड़ता है। कबीर[4] एक स्थल पर कहते हैं "हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ। सतगुर की कृपा भई, डारया सिर थैं बोझ॥" हम कह ही चुके हैं कि कबीर जन्म से मुसलमान थे। उनके कुल में किसी ने राम का नाम नहीं जपा था। फिर वे पाहन क्यों पूजते और बन के रोझ क्यों होते? यदि उनका

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ४६।
(२) ,, ,, पृ० ५३।
(३) ,, ,, पृ० १७३, ३३०।
(४) ,, ,, पृ० ४४।

जन्म किसी विधवा के अपमान का परिणाम था तो भी वे मुसलमान के घर में पले थे। न तो उनको पत्थर पूजना पड़ता न पुनर्जन्म के फेर में पड़कर वन का रोझ होना पड़ता। फिर उनके कहने का तात्पर्य क्या है? हमारी धारणा है कि कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव इतना पर्याप्त पड़ चुका था कि उनका विश्वास अवतार में हो गया था। यह प्रभाव रामानंद का कहा जा सकता है, उनके राम इसी ढंग के थे। कबीर भली भाँति उनके प्रभाव में न आ सके कारण यह समझ पड़ता है कि उनका स्वर्गवास कबीर के बचपन में ही हो गया था। इतिहास भी इसके प्रतिकूल नहीं है। जब कबीर सयाने हुए और मूर्तिपूजा के रहस्य को समझ गए तब उसके महत्त्व को उन्होंने कुछ स्वीकार किया। उक्त कथन उस समय का प्रतीत होता है जब आप उसके प्रतिकूल प्रचार कर कुछ थक चले थे और इस-लाम की ओर से मुँह मोड़कर सुरति-शब्द, नाद-बिंदु का प्रचार कर रहे थे। इस दशा में आपका यह कहना, कि यदि 'सतगुर' की कृपा न होती तो आप भी पत्थर पूजते और उसके परिणाम-स्वरूप निम्न कोटि की योनि में जन्म ग्रहण करते, स्वाभाविक ही है। इस पद्य के आधार पर हम इस प्रचलित प्रवाद को, कि कबीर रामानंद के शिष्य थे, असत्य नहीं कह सकते। परंपरा से लोग कबीर को स्वामीजी का शिष्य मानते आए हैं। अस्तु, कबीर-ग्रंथावली के आधार पर भी उसको निराधार नहीं कह सकते। हाँ, पुष्ट कर सकते हैं। यदि ग्रंथावली से वह कल्पित अथवा असत्य सिद्ध हो जाय तो हम सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हैं।

कुछ लोगों, विशेषकर कबीर पंथी मुसलमानों, की धारणा है कि कबीर मानिकपुर के शेख तकी के मुरीद थे। इस मत के पक्ष में बहुत कम विद्वान् हैं। श्री 'हरिऔध'[1] जी ने इस मत का खंडन

---

(१) कबीर-वचनावली पृ० १२-१५।

तथा श्री रामप्रसाद[1] त्रिपाठीजी ने इसका विवेचन जिस ढंग से किया है उससे इस मत की साधुता में सर्वथा संदेह हो जाता है। जो लोग शेख तकी को इनका पीर मानते हैं उनके पक्ष में यह प्रमाण कहा जाता है[2]—

शेख तकी

"मानिकपुरहि कबीर बसेरी मदहति सुनि शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना झूँसी सुनि पीरन के नामा॥"

इनके अतिरिक्त कबीर का संबंध शेख अकरदीं और सकरदीं से भी कहा गया है। इसका वर्णन आता है कि शेख अकरदीं और सकरदीं कबीर को लेकर स्वामी रामानंद की शरण में गए थे। प्रवाद है कि कबीर से झूँसी के शेख तकी की कुछ लाग-डाँट भी हो गई थी। कबीर के साथ जहाँगश्त[3] फकीर का संबंध भी कहा जाता है। कबीर-ग्रंथावली[4] में केवल यह पद्य मिलता है "हज्ज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीतंबर पीर॥ वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥" यह ध्यान देने की बात है कि यह पद्य ग्रंथावली के परिशिष्ट अर्थात् ग्रंथ साहब का है। ग्रंथ साहब के 'पहले दर्सन मगहर पायो' वाले पद्य पर हम कुछ विचार कर चुके हैं। इस पद्य में एक विशेष बात यह भी है कि पीतांबरजी एक अच्छे गायक हो गए हैं, तारक नहीं। यदि पीर शब्द के आधार पर उनको सूफी कहें तो पीतांबर-संज्ञा के अनुरोध से भक्त। पूरे पद पर विचार करने से पीतांबरजी भक्त ठहरते हैं, सूफी नहीं। उनका 'हरि-नाम' कबीर को प्रिय लगता है। पीतांबर पीर से हम अभी तक अनभिज्ञ हैं। हो सकता है कि

---

(१) हिंदुस्तानी तिमाही पत्रिका १९३२ पृ० २०७-०८।
(२) हिंदी-साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) पृ० ७३।
(३) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० १८।
(४) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३३०।

उनका स्थान जौनपुर रहा हो। इस समय हम इतना ही कह कर संतोष करते हैं कि आप राम के भक्त, प्रसिद्ध गायक और पीर के रूप में ख्यात थे। यदि कबीर आपके शिष्य नहीं थे तो आप पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी। वे आप का सत्संग करते थे और इसको तीर्थ समझते थे। इस पद्य की भाषा भी कुछ चिंतनीय है—"वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥"

कबीर-ग्रंथावली के परित: परिशीलन से पता चलता है कि कबीर किसी के मुरीद नहीं थे। जिस अर्थ में लोग शेख तकी को उनका पीर कहते हैं उस अर्थ में तो स्वामी रामानंद भी उनके गुरु नहीं कहे जा सकते।

दीक्षा

स्वामीजी का दीक्षा-मंत्र "रां रामाय नमः" था। उन्होंने कबीर को केवल 'राम राम कह' का मंत्र दिया था। कहा जाता है कि 'बिनु गुरु ज्ञान को लहै' इसी बात को स्वयं कबीरदास भी इस प्रकार कहते हैं "गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै"; इसका फल यदि यह 'राम राम कह' हो तो क्या आश्चर्य है। कुछ भी हो, कबीर किसी सूफी के मुरीद नहीं हो सकते। उनके शेख से वही तात्पर्य है जो सूफियों का होता है। सूफी लोग शेख, मीर और काजी का मजाक उड़ाते हैं, उनकी चुटकी लेते हैं, उनको प्रेम-पीर की दीक्षा देना चाहते हैं। शेख तकी एक प्रसिद्ध व्यक्ति जान पड़ते हैं। घट रामायण[1] में भी आप का प्रसंग आया है। कबीर स्वयं कहते हैं[2] "मीरां, मुझसूँ मिहर करि, अब मिलौं न काहू साथि" इससे क्या ध्वनित होता है? यही न कि अब आप किसी के साथ नहीं मिल सकते; आपके लिये हिंदू तथा मुसलमान एक हैं! स्पष्ट है कि जब कबीर रामानंद के

---

(१) घट रामायण पृ० ८८।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १४॥

निधन के अनंतर ज्ञान की जिज्ञासा से सूफियों के सत्संग की ओर मुड़े तब मुसलमानों की ओर से उनको अपनाने का प्रयत्न किया गया। संभवतः उनको कुछ सफलता भी मिली; पर अंत मे कबीर उनका साथ छोड़कर उनके विरोधी बन गए। कबीर ने कहा भी है[1]—"तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा। गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥" हमको तो यही प्रतीत होता है कि कबीर को इसी खोज मे उक्त महानुभाव मिले होंगे। इस विषय मे श्री शुक्लजी[2] का कथन है "कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है; जैसे "घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे। पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार न थे, सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे"। निदान हम यह साहस के साथ कह सकते हैं कि कबीर किसी शेख या सूफी के मुरीद न थे, उनके सत्संग से लाभ उठानेवाले जीव थे।

सतगुर

एक प्रकार से कबीर के गुरु की मीमांसा हो चुकी। पर यह तब तक अधूरी समझी जायगी जब तक उनके 'सतगुर' की कुछ समीक्षा न हो ले। सूफियों में जो 'आजाद' अथवा वेसरा कहे जाते हैं उनके गुरु का पता लगाना कुछ कठिन होता है। उनमे प्रायः तो ऐसे होते हैं जिनको

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २२०।
(२) हिंदी-साहित्य का इतिहास पृ० ७२।

अलख (अलगैव) से शिक्षा मिलती है। हमारी समझ में कबीर के 'सतगुर' अलख या, अधिक संगत होगा, राम थे। कबीर ने अनेक स्थलों पर इसका निदर्शन भी कर दिया है[1] "कबीरा तालिब तोरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा।...तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला, कहै कबीर राम रमूं अकेला।...कबीर पंगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा।..." यहाँ पर यह निवेदन कर देना परम आवश्यक प्रतीत होता है कि कबीर-ग्रंथावली में ऐसे पद्यों की कमी नहीं है जिनसे यह ध्वनित होता है कि कबीर से यदि कोई उनके गुरु अथवा पीर के संबंध में कुछ पूछता था तो वे कुछ चिढ़ जाते थे। आपका प्रश्न है[2] "मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँ थैं आया?" यह तो मुसलमानों की बात हुई। पंडितों से भी आप यही कहते हैं[3] "जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरा कौन गुरू कौन चेला।" कबीर की इस मनोवृत्ति के कुछ भी कारण रहे हों उनसे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है। हमको तो केवल इतना ही कहना है कि कबीर या तो इसके यथार्थ उत्तर मे कुछ आपत्ति समझते थे, या उनका कोई वास्तविक गुरु न था। आपने जिस मत का प्रचार किया उसकी प्रेरणा किसने की? किसके आदेश से आपने ऐसा किया? इसके विषय में आपका कहना है[4] "मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हारयौ, अब मोहि दोष न लाइ॥" यह साखी भी कुछ इसी पक्ष मे है[5] "हरि जी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर। भौसागर मैं जीव

---

(१) कबीर-ग्रथावली पृ० ६८, १२६, १७६।
(२) " " पृ० १७४।
(३) " " पृ० १४०।
(४) " " पृ० १६६।
(५) " " पृ० ५६।

हैं, जे कोइ पकड़ै तीर।" सारांश यह कि कबीर को[1] "राम मोहि सतगुर मिले अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई"—राम 'सतगुर' मिले थे, जो जीवमात्र के परम गुरु हैं। ये राम दाशरथि राम से भिन्न, कलानिधि एवं परमतत्त्व के आश्रय हैं, अवतारधारी नहीं।

कबीर के विवाह के विषय में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, इस तथ्य से प्रायः सभी जानकार सहमत हैं कि लोई का कबीर से संसर्ग रहा है। कबीर-पंथियों की दृष्टि मे कबीर साहब विदेह थे; उनको किसी स्त्री से कुछ काम न था। वे तो हंसों को कनक-कामिनी के कोप से उबारने आए थे, उसमें झोंकने नहीं। लोई के विषय में[2] "कबीर-पंथ के विद्वान् कहते हैं कि लोई नाम की स्त्री उनके साथ आजन्म रही, परंतु उससे उन्होंने विवाह नहीं किया।" लोई को कुछ लोग स्त्री-वाचक न मानकर लोक शब्द का रूपांतर समझते हैं। उनका मत है कि कबीर की पत्नी का नाम पहले धनिया था; किंतु संतों ने उसका नाम रामजनिया रख दिया। इस प्रकार कबीर की स्त्री के तीन नाम—लोई, धनिया और रामजनिया—प्रसिद्ध हो रहे हैं। इनमें से अधिक प्रचलित लोई शब्द ही है। यदि लोई का अर्थ लोक होता है तो धनिया का धन्या (स्त्री) और रामजनिया का किसी देवदासी या वेश्या की संतान। धनिया और रामजनिया शब्द कबीर के इस पद्य मे मिलते हैं[3] "मेरी बहुरिया को धनिया नाउ। ले राख्यो रामजनिया नाउ॥ इन मुंडियन मेरा घर धुधरावा। बिटवहि राम रमैआ लावा॥ कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडियन मेरी जाति गँवाई॥" यह पद्य उस समय का प्रतीत होता है

विवाह

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १९२।
(२) कबीर-वचनावली पृ० २०।
(३) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१७।

जब कबीर के यहाँ मुंडितों की भीड़ लगा करती थी और कबीर उन्हीं के सत्संग में निमग्न रहने लगे थे। उनकी माता चिढ़कर कहती है कि इन घुटे पाखंडियों ने उसकी बहू का नाम 'धनिया' से रामजनिया रख दिया। इस प्रकार उसके घर को कलंकित ही नहीं किया, उसके बेटे को भी राम राम रटने में लगा दिया। हम इस समय इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि कबीर की स्त्री का वास्तविक नाम क्या था। हमारा अभीष्ट विषय तो यह सिद्ध करना है कि कबीर विवाहित व्यक्ति थे। प्रसंग-वश यहाँ पर इतना और कह देना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि कबीर के कतिपय पद्यों से यह भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि आपका विवाह दो बार हुआ था। आपका कथन है "पहली[1] नारि सदा कुलवंती सासू सुसरा मानैं। देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानैं॥ अब की घरनि धरी जा दिन सैं, पीय सूं बांन बन्यूं रे। कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ रु रांम सुन्यूं रे॥" संभव है, और अधिक संभव है, कि कबीर की प्रथम पत्नी का नाम धनिया रहा हो और दूसरी का लोई। धनिया सबकी प्यारी थी; किंतु कबीर से उसकी नहीं पटती थी। मुख्य कारण कदाचित् यह था कि उसका झुकाव भाव-भजन की ओर न था। संभवतः वह कट्टर जुलाहिन थी। दूसरी पत्नी से कबीर की खूब पटती थी। दोनों राम-नाम-महारस पीते थे और 'महासुख' का अनुभव करते थे। हो सकता है कि यह किसी वनखंडी वैरागी की पोषिता कन्या रही हो और आजन्म कबीर के भाव-भजन में सहायक बनी रही हो, जैसा कि कबीरपंथी भी स्वीकार करते हैं।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १६५।

कबीर के विवाहित होने में मुसलमानों को संदेह नहीं है। इसलाम मे विवाह आधा स्वर्ग समझा जाता है। उसकी दृष्टि में संन्यास का कुछ भी महत्त्व नहीं है। एक प्रकार से उसमें इस प्रवृत्ति की भर्त्सना मिलती है। कबीर जन्म से मुसलमान थे। उनका पालन-पोषण मुसलमान के घर हुआ था। अतः अविवाहित रहने के लिये उनको किसी प्रकार का प्रोत्साहन न था। सूफी भी विवाह के पक्ष में रहते थे। अस्तु, कबीर का विवाहित होना ही स्वाभाविक था। कबीर ने इसका संकेत भी अपने वचनों में प्रायः किया है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर नारी में सदा लिप्त रहे। संन्यास के पक्ष में न होने पर भी कबीर विरक्त हो गए थे। आपका विचार था कि कनक-कामिनी का वास्तविक बहिष्कार ज्ञान से ही संभव है। आपने अपने विषय में कहा भी है "कबीर[1] त्यागा ग्यान करि कनक कामिनी दोइ।" कबीर का एक और पद्य इसी प्रकार का प्रसिद्ध है "नारी[2] तो हम भी करी, जाना नहीं विचार। जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥" पर दोनों पद्यों के सिद्धांतों में बड़ा अंतर है। हमारा मत है कि द्वितीय पद्य इस मत का प्रतिपादक है कि स्त्री-सेवन अज्ञान का फल है, किंतु प्रथम में यह बात नहीं है। उसका आशय यह अवश्य है कि ज्ञान के प्रकाश में कनक-कामिनी का मोह नहीं ठहर सकता। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर ने विवाह किया था। कबीर ने एक स्थल पर कहा है[3] "भली सरी मुई मेरी पहली बरी। जुग जुग जीवो मेरी अब की धरी॥" यहाँ पर यह कहना कठिन है कि कबीर का

गृहस्थ

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ६४।

(२) कबीर-वचनावली पृ० २०।

(३) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८१।

वास्तविक अर्थ क्या है। क्योंकि इसी पद्य में आप फिर कहते हैं "कहु कबीर जब लहुरी आई बड़ी का सुहाग टरयो। लहुरी संग भई अब मेरै जेठी और धरयो।" यदि प्रस्तुत पद्य में कुछ भी कबीर ने अपने विषय में संकेत किया है तो हमारा उक्त अनुमान ठीक समझ पड़ता है। कबीर ने अपने विषय में एक स्थान पर इस प्रकार कहा है[1] "जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी।" परंतु इसका आशय यह नहीं कहा जा सकता कि वे उदासी थे। उन्होंने स्पष्ट निरूपण किया है[2] "माया महि जिसु रखै उदास। कहि कबीर हौं ताका दास॥"

कबीर केवल विवाहित ही न थे। उनके एक पुत्र और एक पुत्री भी थी। कबीर-पंथी भक्तों का कथन है कि कमाल और कमाली कबीर की औरस संतान न थे। कबीर ने उनको जिलाकर पाला-पोसा था। उनके

संतान

इस विचार का प्रधान कारण यही है कि उनकी समझ में कबीर अविवाहित थे। उन्होंने कभी अपनी निष्ठा भंग न की। अधिकतर विद्वानों की सम्मति में कमाल और कमाली कबीर की औरस संतान थे। कमाल के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है[3] "बूड़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।" इस प्रवाद का पुष्टीकरण कबीर-ग्रंथावली से भी हो जाता है। कबीर का रंग-ढंग देखकर उनकी माता उनके सामने यही कहती है कि इन लड़कों की क्या गति होगी। कबीर कहते हैं[4] "जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह।" अंत में वह परमात्मा का नाम लेकर झंखती

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८१।
(२) " " पृ० २७१।
(३) " " पृ० २६३।
(४) " " पृ० ६५।

है "ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ !" कबीर आश्वासन देकर निवेदन करते हैं[1] "कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई ॥" इसमें तो किसी भी अभिज्ञ व्यक्ति को संदेह नहीं हो सकता कि कबीर की माता को उक्त बच्चों की ही चिंता है। यदि ये बच्चे कबीर के औरस न होते तो वह कबीर की खूब खबर लेती; उनको भला-बुरा कहती। इस ढंग से इस चिंता में न पड़ती कि उनका पालन-पोषण किस प्रकार होगा। कमाल और कमाली नाम भी मुसलमानी हैं, जो कबीर को मुसलमान सिद्ध करते हैं। उनकी माता भी 'खुदा' का नाम लेती है। वस्तुतः कमाल और कमाली के कबीर पिता थे पोषक नहीं।

कबीर के परिवार से परिचित होने के उपरांत उनके पारिवारिक जीवन पर कुछ विचार करना आवश्यक है। कबीर की जीविका के विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं हो सकता। ऊपर जो पद्य उद्धृत किए गए हैं उनसे इस बात में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता कि कबीर कपड़ा बुनकर अपने परिवार का पालन करते थे। कबीर के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आपके पिता का स्वर्गवास पहले हो चुका था। परिवार का सारा भार आप ही के सिर था। जब तक आप अपने काम में दत्तचित्त रहे तब तक किसी प्रकार का कष्ट न रहा। भाव-भजन में लग जाने से आपका चित्त अति उदार हो गया। आपके यहाँ भीड़ लगने लगी। परिणाम यह हुआ कि आपकी आय घटी और व्यय बढ़ा; जीवन-निर्वाह भी एक प्रकार से कठिन हो गया। कबीर के विषय में जो प्रवाद प्रचलित हैं, उनमें यहाँ तक कहा गया है कि एक दिन कबीर की ऐसी दीन परिस्थिति हो गई कि पत्नी के सतीत्व का ध्यान त्याग-

पारिवारिक जीवन

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१७।

कर अतिथि-सत्कार के लिये किसी तरुण महाजन से द्रव्य लाने की अनुमति उसे देनी पड़ी। इससे अधिक इसके विषय में और क्या कहा जा सकता है? कबीर कर्मशील व्यक्ति थे। माँगना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। फिर भी इस पारिवारिक झंझट के कारण आपको परमात्मा से अन्न तक माँगना पड़ा "[1]दुइ सेर माँगौं चूना। पाव घीउ संग लूना॥ अधसेर माँगौं दाले। मोको दोनों वखत जिवाले॥" अन्न-चिंता के अतिरिक्त आपको अन्य चिंताएँ भी थीं। हमारी दृष्टि में आपका पारिवारिक जीवन शांत न था। यदि आपको कुछ शांति मिली तो लोई से। आपका कहना है[2] "जदि का माई जनमियाँ, कहूँ न पाया सुख। डाली डाली मैं फिरौं, पातौं पातौं दुख॥"

कहा[3] जाता है कि कबीर के यहाँ इतना जमघट होने लगा कि कबीर उनसे ऊबकर "घर बार छोड़कर जंगल में जा छिपे।...और रामजी ने बड़े उत्सव के साथ उनका भंडारा समाप्त किया"। इस कथा का उल्लेख अन्य संतों ने भी किया है। कबीर ने स्वतः कहा है[4] "घर तजि वन बाहर कियौं वास, घर वन देखौं दोऊ निरास। जहाँ जाऊँ, तहाँ सोग संताप, जुरा मरण को अधिक बियाप॥ कहै कबीर चरन तोहि वंदा, घर में घर दे परमानंदा॥" वन वन फिरने का प्रसंग अन्यत्र[5] भी आया है "जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी।" इस प्रकार इतना तो निर्विवाद है कि कबीर कुछ काल

विराग

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २१९।
(२) ,, ,, पृ० ६२।
(३) भक्तमाल (शिवदयाल-रचित) पृ० २२६।
(४) कबीर-ग्रंथावली पृ० ११२।
(५) ,, ,, पृ० १८१।

के लिये वैरागी बन गए थे। यदि उक्त प्रवाद ठीक है तो इसका प्रधान कारण घर-बार की झंझट ही थी। पर, कबीर की यह मनोवृत्ति अधिक दिन तक न ठहर सकी। आपने देखा कि दुःख साथ साथ लगा फिरता है; उससे छुटकारा पाने का मार्ग कुछ और ही है। निदान, उन्होंने यह निश्चित किया कि घर या वन से दुःख का संबंध नहीं है। उसका तो तभी अंत हो सकता है जब सम्यक् आत्मबोध हो जाय। उद्बोधन ही हमारा अभीष्ट है—"कहै[1] कबीर जागया ही चहिए, क्या गृह क्या वैराग रे।" इस प्रकार कबीर ने उस वैराग्य का पल्ला पकड़ा जो 'माया में उदास' अथवा 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' का पोषक था। उसके लिये[2] "करि वैराग फिरौ तन नगरी मन की किंगुरी बजाई॥"

ज्ञानार्जन

कबीर की प्रतिभा प्रखर थी। उसकी कृपा से कबीर ने जो ज्ञानार्जन किया था वह उनकी जिज्ञासा की तृप्ति न कर सका था। उसने उसको और भी प्रज्वलित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कबीर घर-बार की सुधि न कर इधर-उधर भटकने लगे। बचपन में उनको शिक्षा नहीं मिली थी। जाति के थे भी जुलाहे। न तो वेद ही पढ़ सकते थे और न कुरान ही। वेद के अधिकारी न थे और कुरान रटने का अवकाश नहीं मिलता था। जो कुछ उन्होंने सीखा-समझा वह अपर्याप्त था। वे सत्संग से संशय का नाश करना चाहते थे; परंतु उनके पास इतना समय कहाँ था और उनकी सुनता कौन था! घर से बाहर निकल इधर-उधर भ्रमण करते रहे[3]। कबीर का कथन

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०६।

(२) " " पृ० २१७।

(३) कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इसी धुन में वे बलख-बुखारा तक गए थे।

है[1] "वेद पुरान सिम्रति सब खोजे कहूँ न ऊबरना। कहु कबीर यों रामहिं जपौ मेटि जनम मरना॥" इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर ने सचमुच सब कुछ छान डाला था। कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर को सब ग्रंथों का ज्ञान स्वतः हो गया था, वे ऋतंभर थे। श्रद्धा एवं विश्वास की बातों को अलग छोड़कर संक्षेप में हम इतना ही कहना अलम् समझते हैं कि कबीर बहुश्रुत थे। भ्रमण का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-संचय था। उनके ज्ञान के आधार साधु-संत और 'सतगुर' थे। व्यावहारिक ज्ञान अथवा अपरा विद्या का अर्जन कबीर उत्तम नहीं समझते थे। आपका ध्येय परा से परिचय प्राप्त करना था। वेद, कुरान आदि धार्मिक ग्रंथों को आप व्यावहारिक तथा लोकाचार[2] का प्रचारक समझते थे। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने जिस धर्म के जो क्रिया-कलाप देखे उन्हीं को वेद तथा कुरान का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय समझ लिया। इनको अध्ययन व्यर्थ समझ पड़ता था। अनुभव ही सब कुछ था। आपका आदेश है[3] "कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ। बाँवन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ॥" क्योंकि[4] "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ। ऐकै आखिर पीव का, पढ़ै सुपंडित होइ॥" कबीर किसी प्रकार पुस्तक घोटने के पक्ष में नहीं कहे जा सकते। न तो आपने पुस्तकों से ज्ञानार्जन किया था और न उनको इसका उचित साधन ही सम-

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१८।
(२) " " पृ० २०७।
(३) " " पृ० ३८।
(४) " " पृ० ३८।

झते थे। आपका तो कहना है "का[1] पढ़िए का गुनिएँ, का वेद पुराना सुनिएँ। पढ़े गुनें मति होई, मैं सहजैं पाया सोई।" आपको मति सहज ही मिली थी। आपको पढ़ने की आवश्यकता न थी। आप स्वयं कहते हैं[2] "विद्या न पढ़ूँ, वाद नहि जानूँ, हरिगुन कथत सुनत बौरानूँ।" आपके विषय में यह पद्य अत्यंत प्रचलित है[3] "मसि कागद तो छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ। चारहु जुग महातम, कहि के जनायो नाथ।" वस्तुतः कबीर एक अनपढ़ पंडित एवं अनुभवी तत्त्वदर्शी थे। मधुकरी वृत्ति ही आपकी जानकारी थी।

कबीर ने वेद और कुरान को प्रधानता नहीं दी। उनकी रचनाओं में जो नाम लिए गए हैं उनमें गोरखनाथ एक प्रधान योगी थे। कबीर के शिष्यों ने गोरखगोष्ठी की सृष्टि कर गोरख को नीचा दिखाया है और उसका श्रेय स्वयं कबीर को दिया है। यह बात कहाँ तक उचित थी इसका ध्यान भक्तों ने नहीं किया। पर कबीर ने जिन शब्दों में गोरखनाथ को स्मरण किया है उनसे यह स्पष्ट अवगत होता है कि कबीर पर नाथ-पंथ का ऋण अवश्य था। कबीर गोरख को किस दृष्टि से देखते थे, इसका पता कुछ इस पद्य से चल जाता है[4] "ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई॥ टेक॥ सनक सनंदन जैदेव नांमां, भगति करी मन उनहुँ न जांनां॥ सिव विरंचि नारद मुनि ग्यांनीं, मन की गति उनहूँ नहि जानी॥ धू प्रहिलाद वभीषन सेषा, तन भीतर मन उनहुँ न देषा॥ ता मन का

नाथ-पंथ का प्रभाव

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७७।
(२) " " पृ० १२५।
(३) " " पृ० २४।
(४) " " पृ० ११।

कोइ जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव ॥ गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा ।" प्रस्तुत पद्य के परितः परिशीलन से इस विषय में संदेह नहीं रह जाता कि कबीर का संबंध नाथों तथा सिद्धों से अधिक रहा। गोरख के विषय में आपका मत है[1] "साखी गोरखनाथ ज्यूँ, अमर भए कलि माहिं" यह गोरख की प्रशंसा व्यर्थ नहीं है। हठयोग का कबीर पर पूरा प्रभाव पड़ा है। इसका अधिकतर संबंध कबीर के मत अथवा सिद्धांत से है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि[2] "गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट। तहाँ कबीरैं मठ रच्या, मुनि जन जोवैं वाट ॥..., वंकनालि जे सम करि राखै। तौ आवागमन न होई।" आदि पद्यों में जो बात कही गई है उसका संबंध हठयोग से ही है। कबीर की उलटी चाल, सहज, सुरति, शब्द, नाद, बिंदु, इला, पिंगला, सुषुम्ना आदि शब्द इसी बात को पुकारकर कह रहे हैं। कहाँ तक कहें, कबीर के राम भी 'ररां' 'ममां' हैं[3]। "रांम गुन वेलड़ी रे, अवधू गोरपनाथि जांणीं।" सच बात तो यह है कि गोरख तथा उनके पंथियों से अपरिचित होने के कारण ही हिंदी-संसार कबीर को प्रवर्तक मान बैठा है। वस्तुतः कबीर इस परंपरा के परिपुष्ट प्रसाद हैं, जिनको प्रखर प्रतिभा के कारण लोगों ने सब कुछ मान लिया है। यह विषय इतना गहन है कि इसका समुचित विवेचन अन्यत्र ही संभव है[4]।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८।
(२) " " पृ० १४२।
(३) " " पृ० १४२।
(४) हर्ष का विषय है कि पंडित पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने इधर विशेष ध्यान दिया है। आपने अपने 'हिंदी कविता में योग-प्रवाह' नामक लेख में जिन योगी कवियों का परिचय दिया है उसके आधार पर कहा है "निर्गुण

जिस परंपरा का संकेत हमने अभी अभी किया है वह सदा से पंडितों की पोल खोलती तथा उनको पाखंडी कहती आ रही है।

पंडितों का खंडन

कबीर पर इस परंपरा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। मुसलमानों का आक्रमण धर्मदृष्टि से मंदिरों पर था। ब्रह्म-मंडली कबीर की प्रतिष्ठा करने को तत्पर न थी। कबीर ने जब कुछ बल प्राप्त कर लिया तब 'पांड़े' की कुमति का प्रदर्शन करना, उनकी गत बनाना, उनको सत्पथ पर लाना अपना धर्म समझा। एक तो इस प्रकार के आक्रमण कर्मकांडियों पर सदा से होते आ रहे थे। दूसरे कबीर के पक्ष में, मुसलमान होने के नाते, इसलामी दल था। पंडित-मंडली उनका बहिष्कार कर रही थी। कभी कभी किसी का उनसे विरोध भी हो जाता था; परंतु अधिकतर यह विवाद से आगे नहीं बढ़ पाता था। कबीर कभी समझाते, कभी झुँझलाते, कभी चिढ़ते, कभी चिढ़ाते थे। पंडा पुरोहित विरोध में लगे रहते थे; पर इसलाम के दर्प के कारण अधिकतर उनका वश नहीं चलता था। कबीर भी प्रायः समझाया करते थे कि ब्राह्मण होना कोई बड़ी बात नहीं है। हम भी पहले जन्म में ब्राह्मण थे, राम के विस्मरण के कारण जुलाहा हो गए। "पूरब[1] जनम हम बाम्हन होते, बोछे करम तप हीनां। रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा।" कबीर जाति, वर्ण, आश्रम, छूतछात, पूजा-पाठ, जप-तप, तीर्थव्रत आदि का खंडन जी खोलकर

शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का जल पहले योग के ही घाट पर बहा था।" भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़, हमें तो यही कहना है कि यदि उक्त पंडितजी इस विषय की मीमांसा में तल्लीन रहेंगे तो एक नवीन तथ्य का उद्घाटन ही नहीं प्रतिपादन भी हो जायगा। आप बाबा गोरखनाथ की बानियों के संपादन में लगे हैं। (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, पृष्ठ ४०२)

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७२।

करते थे और पंडितों को ललकारते थे कि उनके पदों का अर्थ तो कर दें। उनमें भी शाक्तों से आप खार खाए बैठे थे। उनको कुछ भी कहना आप अनुचित नहीं समझते थे।

कबीर ने जिस मार्ग का अनुसरण किया था, वह बहुत ही कठोर था। उन्होंने जो फटकार ब्राह्मणों को दी थी, जिस प्रकार उनके आचार-विचार पर प्रहार किया था वह किसी प्रकार क्षम्य था। हिंदू-धर्म में वे बातें नवीन न थीं। वेदों की, बहुत पहले ही, इससे भी कड़ी भर्त्सना की गई थी। जाति के प्रतिकूल भी आंदोलन किए गए थे। योग-वाशिष्ठ ने जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत की धज्जियाँ उड़ा दी थीं।

इसलाम का खंडन

पर इसलाम में यह बात नहीं थी। उसके आदेश में जिसने आपत्ति की उसकी दुर्गति हुई। कबीर के लिये प्रत्येक दृष्टि से अनिवार्य हो गया कि वे इसलामी कर्मकांड का भी खंडन करें। इसमें संदेह नहीं कि कर्मकांड ही एक जाति को दूसरी जाति, एक मत को दूसरे मत, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से भिन्न रखते हैं और उन्हें परस्पर लड़ाया करते हैं। पर यह एक ऐसी बात है जिसका निराकरण आज तक नहीं हो सका। जब किसी ने इसका निषेध किया, उसका निषेध ही उसके भक्तों की विधि बन गया। कबीर ने इस विषय में सावधानी से काम लिया तो सही; पर अंत में उनको आत्म-प्रेरणा के कारण अधिक स्पष्ट और खरा बनना पड़ा। उन्होंने राम को यहाँ तक कह दिया "हम बहनोई राम मोर साला"; किंतु मुहम्मद साहब के विषय में आप संयत ही नहीं सदा मौन रहे। जब तक आप वेद-कितेब कहते रहे, बचे रहे। जब कुरान, हज, नमाज का खंडन करना आरंभ किया तब आपको उसका फल भोगना पड़ा।

कबीर पर हिंदू-मत अथवा वैष्णवों का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि उनका इसलाम के अंतर्गत काम करना कठिन हो गया। पहले कभी कभी प्रसंग-वश वे इसलाम के कर्मठों तथा कर्मकांडों को अनुचित कहा करते थे। इस प्रकार उनको लोग आजाद सूफी समझकर छोड़ देते थे। इस उदारता का प्रधान कारण यह था कि कबीर जो कुछ कर रहे थे उसमें इसलाम का विशेष हित था। कबीर स्वतंत्र वृत्ति के जिज्ञासु थे। जब उनको पता चला कि हिंदू-आचार-विचार इसलाम से अधिक सयत एवं श्रेय है तब उन्होंने उस पर विशेष ध्यान देना प्रारंभ किया। उनकी यह दशा देखकर मुसलमानों को चिंतित होना पड़ा। काजी, मुल्ला, शेख आदि सभी दीनदार उनको अपनाने में लगे। जिसके सामने जो अवसर आता वह उसी से लाभ उठाता। पर कबीर टस से मस न होते। ग्रंथावली में न जाने कितने पद्य ऐसे हैं जिनमें उक्त बातों का निर्देश मिलता है। "मीरां[1] मुझ से मिहर करि, अब मिलौं न काहू साथि।" कबीर केवल मीर साहब से ही इतना कहकर मौन नहीं रह जाते; काजी साहब से तो वे यहाँ तक कहते हैं[2] "काजी कौन कतेब बषानैं। पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानैं॥ टेक॥ सकति से नेह, पकरि करि सुनति, यहु न बदूं रे भाई। जौर पुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई? हौं तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिए। अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिए॥ छाड़ि कतेब राम कहि काजी, खून करत हौ भारी। पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झप मारी।" मीर तथा काजी साहब ही तक यह बात नहीं रह जाती। आप मुल्ला साहब से निवेदन

मुसलमानों से विरोध

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १४।
(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १०७, २३१।

करते हैं[1] "मुलां करि ल्यौं न्याव खुदाई, इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥ सरजी आनैं देह विनासै, माटी विसमल कीता, जेतिसरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता ॥ वेद कतेब कहौ क्यूं झूठा झूठा जो नि विचारै।" मौलाना का यह कहना कि वेद झूठा है और उसके उपासक अहलेकिताब नहीं हैं, कबीर को मान्य नहीं है। आपका कथन है कि झूठा तो स्वयं मौलाना साहब का कथन अथवा मौलाना साहब स्वतः हैं जो विचार नहीं करते। 'तुरकी[2] धरम' के विषय में आपका मत है "तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा।...बेअकली अकलि न जानहीं भूले फिरैं ए लोइ। दिल दरिया दीदार विन, भिस्त कहाँ थैं होइ[3] ॥" कबीर के, इसी ढंग के, न जाने कितने कथन हैं। उनका कथन यहीं तक नहीं रहा। उन्होंने प्रच्छन्न रूप से राम का गीत गाना छोड़कर जनता में उसका प्रचार किया "कबीर प्रगट राम कहि छानैं राम न गाइ।" इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों ने उनके प्रतिकूल आंदोलन आरंभ किया।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १०७।

(२) जनाब हाफिज महमूद खाँ साहब का कथन है—"यह इतराज महज हिंदू नुक्तयेनजर से है। और हर वह शख्स जिसने मुसल्मानों में परवरिश पाई है इसको लगो समझेगा। कबीर एक साहबे तुर्क व तजरीद शख्स है।" प्रतीत होता है कि जनाब ने महज कयास से काम लिया है, वर्ना आप कायल हो जाते कि कबीर ने मजहब की पाबंदी को तलाक दे दिया था। कबीर के अवतरित पद्यों से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि आप 'तुरकी धरम' के कितने खिलाफ थे। इसलाम में बहुत से जिंदीक हुए हैं जो उसकी बाहरी बातों के खिलाफ थे। सूफी बातिन के बंदे हैं, जाहिर के कायल नहीं। कबीर आजाद थे, मालिक नहीं। उनको भी इसलाम का दंड भोगना पड़ा। (पंजाब में उर्दू पृ० १४६)

(३) कबीर-ग्रंथावली पृ० २२१।

विद्वानों का मत तथा प्रचलित प्रवाद यह है कि इस आंदोलन में हिंदू-मुसलमान मिलकर काम कर रहे थे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि दोनों जातियों का एक समुदाय सिकंदर लोदी के पास इसलिये गया था कि कबीर को ठीक कर दिया जाय। पर हमें यह मत साधु नहीं प्रतीत होता। हमारी समझ में कबीर का अंतिम आंदोलन एक प्रकार से वैष्णव आंदोलन था। यदि यह ठीक न भी हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि कबीर उस समय किस प्रकार इसलाम पर आक्रमण कर रहे थे। शेख, मीर, काजी आदि धर्म के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से कबीर का कितना विरोध था, कभी कभी आप कितनी खरी बातें कह बैठते थे, उनके दीन की बातों की कितनी भद्द उड़ाते थे आदि ऐसी बातें हैं जिनके विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस दंड में केवल मुसलमानों का हाथ था। सिकंदर के शासन-काल में काफिरों की सुनता कौन था? कबीर के वचनों में इस संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे भी इसी मत का प्रतिपादन होता है। कबीर का कथन[1] है "मन न डिगै ताथैं तन न डराई। केवल राम रहे ल्यौ लाई॥ टेक॥ अति अथाह जल गहर गंभीर। बाँधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर॥ जल की तरंग उठि कटिहै जंजीर। हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥ कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल में राखैं जगनाथ॥" इस पद्य में न तो इसी बात का संकेत है कि यह घटना कहाँ घटी और न इसी का कि इसका प्रधान कारण क्या था। इसी विषय का एक दूसरा[2] पद्य इस प्रकार है "गंग गुसाइन गहिर गंभीर। जंजीर बाँधि करि खरे कबीर॥ मन न

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०३।
(२) „ „ पृ० २८०।

डिगै तन काहे को डेराइ। चरन कमल चित रह्यो समाइ॥ गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर॥ कहि कबीर कोऊ संग न साथ। जल थल राखन है रघुनाथ॥" स्पष्ट है कि यह घटना गंगा, संभवतः काशी, में घटी। कबीर ने अन्यत्र भी अपनी परीक्षाओं का उल्लेख किया है[1] "भुजा बाँधि भिला करि डार्‌यो। हस्ती कोपि मूंड महि मार्‌यो। हस्ती भागि कै चीसा मारै। या मूरति कै हौ बलिहारै॥ आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोर। काजी बकिबो हस्ती तोर॥ रे महावत तुझ डारौ काटि। इसहि तुरावहु घालहु साटि॥ हस्त न तोरै धरै ध्यान। वाकै रिदै बसै भगवान॥ क्या अपराध संत है कीना। बाँधि पोट कुंजर को दीना॥ कुंजर पोटलै लै नमस्कारै। बूझी नहि काजी अँधियारै॥ तीन बार पतिया भरि लीना। मन कठोर अजहू न पतीना॥ कहि कबीर हमारा गोविंद। चौथे पद महि जन की जिंद॥" यह पद पदावली में इस प्रकार है[2] "अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर। काजी बकिवा हस्ती तोर॥ टेक॥ बाँधि भुजा भलैं करि डार्‌यौ। हस्ती कोपि मूंड मैं मार्‌यौ॥ भाग्यौ हस्ती चीसां मारी। वा मूरति की मैं बलिहारी॥ महावत तोकूं मारौं साटी। इसहि मरावौ घालौं काटी॥ हस्ती न तोरै धरै धियान। वाकै हृदय बसै भगवान॥ कहा अपराध संत हौ कीन्हा। बाँधि पोट कुंजर कूं दीन्हा। तीनि बेर पतियारा लीन्हां। मन कठोर अजहूँ न पतीनां॥ कहै कबीर हमारै गोब्यंद। चौथे पद मैं जन का ज्यंद॥" प्रस्तुत अवतरणों में यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर की इन यातनाओं के विधाता काजी महोदय हैं। काजी साहब ने निरपराध कबीर के लिये जो जो दंड-विधान किए थे, उनसे पार होने पर भी काजी साहब की आँखें बंद ही रहीं, उनको

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २१४।

(२) ,, ,, पृ० २१०।

कबीर का विश्वास न हो सका। संभवतः इसी का परिणाम था कि कबीर को काशी त्यागने की आज्ञा मिली। यह आज्ञा सिकंदर लोदी की ओर से मिली थी या नहीं—इसका ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। अधिकतर विद्वान् इसको ठीक समझते हैं; और विल्सन साहब की दृष्टि में फिरिश्ता ने इसका संकेत भी शायद कर दिया है।

कबीर के काशी छोड़कर मगहर में जाने का विशेष कारण यह कहा जाता है कि कबीर यह सिद्ध करना चाहते थे कि काशी और मगहर में कुछ भेद नहीं है। इस विषय में एक प्रवाद यह पेश किया जाता है कि 'मगहर मरै सो गदहा होय'। गरीबदास का वचन[1] है "कासी मरै सो जाय मुक्ति को, मगहर गदहा होई। पुरुष कबीर चले मगहर को ऐसा निहचा होई॥ कासी के तो पंडित कूकैं, मगहर मरो न भाई। वा तो पृथ्वी सूची नाहीं, त्रिसंकु पड़ो बिल्लाई॥" यह कथन इतना सत्य और प्रामाणिक समझ लिया गया है कि आज तक किसी मनीषी ने इधर ध्यान भी नहीं दिया कि इसका मूल रहस्य क्या है। बचपन से हम सुनते आए हैं "मगह मरै सो गदहा होय।" पुराणों की बात जाने दीजिए। जिन लोगों ने रामचरितमानस का अध्ययन किया है, वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि "मगह गयादिक तीरथ जैसे' का मगह वही मगध है, जिसमें कर्मनाशा नदी (जो त्रिशंकु की लार से निकली है) बहती तथा सुरसरि में मिलती है— "कर्मनास जल सुरसरि परई"। इसमें तो संदेह नहीं कि मगध अथवा मगह अब भी 'भदेस' माना जाता है। जहाँ तक हमको इतिहास का पता है यह देश सनातन 'भदेस' है। वैदिक काल के आर्य इसको अमंगल समझते थे। ब्राह्मणकाल में भी इसकी यही दशा रही। बुद्ध भगवान् की कृपा से तथा अशोक आदि महा-

मगहर तथा मगह

(१) गरीबदास की बानी पृ० ८६।

नुभावों के प्रयत्न से इसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, पर साथ ही साथ ब्राह्मणों की घृणा भी बढ़ती रही। परिणाम यह रहा कि तुलसीदास को भी इसको उसी रूप में रखना पड़ा। मगह ही क्यों, 'बिहारी' शब्द भी आदरणीय नहीं समझा जाता। अस्तु, 'मग्गह मरै सो गदहा होय' उपयुक्त ही है। अब रही मगहर की बात। इसके विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि वह कभी 'भदेस' नहीं रहा। हमारी धारणा है कि मगहर का नाम मग्गह के साम्य के कारण भ्रम से दे दिया गया है। गरीबदास ने तो त्रिशंकु का उल्लेख भी कर दिया है। जो कुछ हम कह रहे हैं उसका मंतव्य यह नहीं है कि कबीर के मगहर जाने का कारण अंधविश्वास नहीं हो सकता। उसका सारांश यह है कि भक्तों ने भक्ति तथा भ्रम के कारण भयंकर भूलें की हैं। कबीर के काशीवास का कारण उनका जन्मस्थान था, धर्मभाव नहीं। उन पर यह आक्रमण कदापि नहीं हो सकता था कि वे काशीवास क्यों कर रहे थे। फिर, यदि हम इसको मान भी लें कि कबीर इस अंधविश्वास को हटाना चाहते थे तो इसका प्रमाण क्या है कि कबीर मगहर में मरकर क्या हुए। सच बात तो यह है कि जब कबीर मरे तब उनके मरण को इतना अतिरंजित कर दिया गया कि उसमें वास्तविकता का लेश भी न रहा। लोगों ने 'थोर बनावैं कबीरदास ढेर बनावैं कविता' को चरितार्थ कर दिया। परिणाम यह निकला कि मगहर और मग्गह एक हो गए।

मगहर तथा काशी

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कबीर के मस्तिष्क में काशी और मगहर के साम्य की समीक्षा नहीं थी। हमारा सीधा-सादा कथन तो यह है कि कबीर ने इस विषय में जो कुछ कहा है उसका समन्वय मग्गह की उपेक्षा करने पर भी हो जाता है। इसमें तो संदेह नहीं कि काशी मोक्षदा पुरी कही जाती है। मगहर को यह प्रतिष्ठा कभी

नहीं मिली थी। अतः मगहर में जाकर मरना और जीवन भर काशी का सेवन करना किसी भी अंधविश्वासी अथवा उक्त प्रवाद के भक्त को खटक सकता था।

कबीर लोगों को समझाते हैं[1] "कहतु कबीर सुनहु रे लोई भरम न भूलइ कोई। क्या कासी क्या ऊसरु मगहर राम रिदय जब होई॥"

मगहर-गमन

जहाँ तक हम समझ सकते हैं वहाँ तक इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं कि कबीर इस स्थल पर काशी के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में बंधन और मोक्ष का कारण काशी या अन्य स्थल नहीं; जिसके हृदय में राम हैं वही मुक्त है। कबीर के संबंध में यदि यही कहा गया होता कि कबीर काशी-माहात्म्य का खंडन करने के लिये ही इस ढंग की बातें कहते थे तो कदाचित् हम भी इसको स्वीकार कर लेते; पर लोगों का कथन तो यह है कि कबीर को विवश होकर मगहर जाना पड़ा था। कबीर के अध्ययन से ज्ञात यह होता है कि जब उनको बनारस में रहकर भाव-भजन करना तथा 'हंस उबारना' असंभव हो गया तब उन्होंने यह उचित समझा कि वे अपने जन्म-स्थान को छोड़कर किसी ऐसे स्थान पर जा बसें जहाँ काजी की दाल न गल सके और उनका भाव-भजन मजे में होता रहे। अंत में उनको मगहर ही उचित जान पड़ा। जब कबीर ने मगहर जाने का निश्चय किया तब कुछ लोगों ने उनसे निवेदन किया कि आप आजीवन काशी रहे और अंतकाल में अन्यत्र जा रहे हैं, यह ठीक नहीं है। कबीर ने कहा कि आप लोगों का कथन ठीक नहीं है। मोक्ष, स्थानविशेष का परिणाम नहीं होती। उसका संबंध तो हृदय से है। यदि हमारा हृदय साफ है तो हमको परमात्मा का दर्शन मगहर में भी हो सकता है। नहीं, यदि इस बात को मान भी लें कि

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २११।

काशी में मरने से संसार के बंधन से मुक्त हो जायँगे, तो इसका महत्त्व काशी को प्राप्त होगा, राम को नहीं। फिर हमारा राम का संबंध ही क्या रहा ? हम तो राम के कृतज्ञ हैं[1]। "हरि के लोग मैं तो मति का भोरा। जौ तन कासी तजहि कबीरा रामहि कौन निहोरा॥" और लोग जो काशी का पिंड पकड़े पड़े हैं, उनका प्रमाण हमको मान्य नहीं, उनका तो प्रयोजन कुछ और ही है[2] "वै क्यूं कासी तजैं मुरारी। तेरी सेवा चोर भए बनवारी॥ टेक॥ जोगी जती तपी संन्यासी। मठ देवल बसि परसैं कासी॥ तीन बेर जे नित प्रति न्हावैं। काया भीतरि खबरि न पावैं॥ देवल देवल फेरी देहीं। नांव निरंजन कबहुँ न लेहीं॥" यदि आप लोग हमारे विषय में कुछ सुनना चाहते हैं तो हमारा तो यह दृढ़ निश्चय है[3] "चरन-बिरद कासी कौं न देहूँ, कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ॥"

कबीर के हृदय में यह बात[4] —"हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बंच्या जाई। हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई"—इतनी बैठ गई कि वे मगहर में जाकर बस गए। कबीर के विषय में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उससे पता लगता है कि कबीर मगहर में मौज करते होंगे। अब न तो उन्हें काजी साहब के कोप का भाजन होना पड़ता होगा, और न किसी प्रकार के व्यर्थ वाद-विवाद का पात्र ही। काशी के प्रति भी उनकी किसी प्रकार की ममता न होगी। बस, वे अपनी मौज में मग्न होंगे और परमानंद का अनुभव करते होंगे। पर हमारी यह धारणा कितनी निराधार है, हम कबीर की मनोवृत्तियों से

मगहर-वास

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २६१।
(२) ,, ,, पृ० १८६।
(३) ,, ,, पृ० १८६।
(४) ,, ,, पृ० २६४।

कितने अनभिज्ञ हैं, इसका पता शायद इस पद से चल जाय[1]—"ज्यों जल छोड़ि बाहर भयो मीना। पूरब जनम हौं तप का हीना॥ अब कहु राम कवन गति मोरी। तजिले बनारस मति भइ थोरी॥ सकल जनम सिवपुरी गवाया। मरती बार मगहर उठि आया॥ बहुत वर्ष तप कीया कासी। मरन भया मगहर की वासी॥ कासी मगहर सम वीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥ कहु गुरु गजि सिव सबको जानै। मुआ कबीर रमत श्री रामै॥" कबीर कितने कातर और आर्द्र हो गए हैं, उनका मानव-हृदय कितना पिघल गया है, इसका न तो हम निदर्शन ही कर सकते और न कबीर को अलौकिक माननेवाले महानुभाव उसका आदर-सत्कार ही। उनके कबीर तो दुनिया से परे थे। उनको हृदय से क्या काम! फिर भी जो लोग कबीर को सहृदय समझते हैं, वे उनके उक्त पद का मर्म जानकर इस पद का महत्त्व मानते हैं। "तू[2] मेरो मेरु परबत सुवामी ओट गही मैं तेरी। ना तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनी हरि मेरी॥ अब तब जब कब तूही तूही। हम तुअ परसाद सुखी सदही॥ तोरे भरोसे मगहर बसियो। मेरे तन की तपनि बुझाई॥ पहिले दर्शन मगहर पायो फुनि कासी बसे आई॥ जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी। हम निर्धन ज्यों इह धन पाया मरते फूटि गुमानी॥ करै गुमान चुभहि तिसु सूला कोउ काढ़न कौ नाहीं। अजै सुचोभ कौ बिलल बिलाते नरके घोर पचाही॥ कौन नरक क्या स्वर्ग विचारा संतन दोऊ रादे। हम काहू की काणि न कढ़ते अपने गुरु परसादे॥ अब तौ जाइ चढ़ै सिंघासन मिलिहैं सारँगपानी। राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछानी॥" कबीर प्रपन्न होकर किस प्रकार परमात्मा में

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २६५।
(२) " " पृ० २६७।

मिल गए और उन्होंने काशी और मगहर की महत्ता को एक सिद्ध कर, स्वर्ग और नरक को भी एक किस प्रकार समझा, यही तो इस पद्य का विषय और उनका लक्ष्य है।

कबीर के निधन के संबंध में जो प्रवाद प्रचलित है वह शास्त्रीय नहीं कल्पित है। श्री शिवव्रतलाल[1] का कथन है—"मगहर में गंगा पार चले आए और पृथ्वी पर लेटकर शरीर का त्याग करना चाहा। शरीर ठंडा हो गया। एक चेले ने कहा—"अब यह मर गए।" कबीरजी सर उठाकर बोले—"मैं नहिं मरूँ मरे संसारा। मोको मिला जियावनहारा॥" और फिर लेटकर प्राण त्यागे। हिंदू मृतक शरीर को जलाना और मुसलमान पृथ्वी में गाड़ना चाहते थे। लड़ाई-झगड़ा होने लगा। एक साधू ने प्रगट होकर कहा—"हिंदू जलाएँ और मुसलमान अपने कर्मकांड के अनुसार पृथ्वी में गाड़ें।" जब कपड़ा हटाया गया मृतक शरीर फूलों के आकार में बना हुआ दिखलाई दिया। आधा फूल हिंदुओं ने लिया और काशी में ले जाकर जलाया। आधा मुसलमानों ने लिया और मगहर में रौजा बनाया"। शिवव्रतजी के इस मत को सामान्य से कुछ अधिक समझना चाहिए। आप कहते हैं[2]—"कबीरबीजक की टीका लिखते समय कई बार गूढ़ और कठिन शब्दों का अर्थ स्वयं कबीरजी ने मुझे समझाया था।" पता नहीं, कबीर ने उनको यह 'चरित्र' भी समझाया था या नहीं। प्रतीत तो यह होता है कि शिवव्रतजी ने समझाने की चेष्टा में एक नासमझी की है। आपने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि मगहर कहाँ है और गंगा कहाँ। आपने मगह और मगहर (प्रांत तथा ग्राम) को एक कर दिया है। इस

निधन

(१) भक्तमाल (शिव०), पृ० २१२-२३।

(२) " " पृ० २२३ (नोट)।

भ्रम का निराकरण हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर हमको केवल इतना ही विचारना है कि कबीर के शव के संबंध में जो कुछ कहा जाता है वह कहाँ तक मान्य है।

श्री हरिऔधजी ने 'फूल' का रहस्योद्घाटन इस प्रकार किया है—"कबीर कसौटी"[1] (पृ० ५४) में लिखित मरने के समय के इस

शव

वाक्य से कि "कमल के फूल और दो चद्दर मँगवाकर लेट गए" इस फूल का रहस्य समझ मे आता है। कबीर साहब ने जब शव के लिये तलवार चल जाने की संभावना देखी, तो उन्हीं ने अपने बुद्धिमान् शिष्यों द्वारा दूर-दर्शिता से ऐसी सुव्यवस्था की कि शरीरांत होने पर शव किसी को न मिला। उसके स्थान पर लोगों ने फूलों का ढेर पाया, जिससे सब झगड़ा अपने आप मिट गया। उपाध्यायजी ने इस व्यवस्था का न तो कुछ परिचय ही दिया और न इसी बात का ध्यान रखा कि लड़नेवाले शिष्य ही थे, अन्य नहीं। 'ग्रंथावली' की प्रस्तावना मे कहा गया है[2] "यह कहानी भी विश्वास करने के योग्य नहीं है परंतु इसका मूलभाव अमूल्य है।" हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि कबीर की उस आत्मा ने इस प्रकार की आकाशवाणी कर, लड़ो मत, कफन उठाकर देखो' कौन सा अमूल्य भाव भर दिया। कुछ भी हो, हमको इस कहानी की कल्पना को खरी कसौटी पर कसना चाहिए। कबीर के संबंध में यह कहा जा चुका है कि वे मुसलमान थे; इसलिये उनको दफनाना ठीक ही था। कबीरपंथी हिंदू उनको गृहस्थ नहीं मानते, अतः उनका अग्नि-संस्कार अनिवार्य नहीं था, वे समाधि के भागी थे। आज भी हिंदू कबीर-पंथी साधु समाधिस्थ होते हैं, उनको समाधि दी जाती है, उनका

---

(१) कबीर-वचनावली पृ० ३०।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० २२।

अग्नि-संस्कार नहीं किया जाता। फिर यह झगड़ा क्यों उठा? उनके फूल जलाए क्यों गए? क्या कबीर की आत्मा समाधि की व्यवस्था दे एकता नहीं स्थापित कर सकती थी? उनके जीवन का तो लक्ष्य ही यही था। कबीर जीते जी सदा यही कहते रहे[1] "कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख। जाका वासा गोर मैं, सो क्यूँ सोवै सुक्ख॥" अथवा "कबीर कहा गरवियौ, ऊँचे देखि अवास। कालिह परयूं भ्वैं लेटणाँ, ऊपरि जामैं घास।" फिर भी न जाने क्यों, लोग कबीर को जलाने पर तुले हैं और उनकी आत्मा से इसका संकेत भी करा देते हैं।

समाधि

धर्मदास कबीर के प्रमुख शिष्य थे। उनके तथा कबीर के संबंध के विषय मे हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। कबीर के शव के संबंध में तथा इस अंतिम संग्राम के विषय में आपका कथन[2] है—"मगहर गाँव गोरखपुर, जग में आइया। हिंदू तुरुक प्रमोधि के, पंथ चलाइया॥ बिजुली खाँव पठान सो कबुर खोदाइया। बिजुलीसिंह बघेल साजि दल आइया॥ रानी पतिया पठाय, जीव जनि मारिया। मुरदा न होय कबीर बहुरि पछिताइया॥ खोदि के देखी कबुर, गुरु देंह न पाइया। पान फूल ली हाथ, सेन फिर आइया॥" एवं[3] "मगहर में एक लीला कीन्हीं, हिंदू तुरुक व्रतधारी। कबर खोदाइ के परचा दीन्हो, मिटि गयो झगरा भारी॥" प्रस्तुत अवतरण में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि बिजुलीसिंह ने कब्र खुदवाकर देखा और उसमें उसको कबीर का शव न मिलकर केवल पान-फूल मिले। हमारी धारणा है कि इस कथानक में इतिहास कुछ रक्षित है। प्रतीत यह होता

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ६।
(२) धर्मदास की शब्दावली पृ० १।
(३) " " " पृ० ४।

है कि जब कबीर का अंत-काल निकट आ गया, अथवा जब उनका स्वर्गवास हो गया उसी समय बिजुलीखा पठान ने यह उचित समझा कि कबीर को कब्र दी जाय। इतिहास से पता चलता है कि उस समय मगहर में मुसलमान या तो थे ही नहीं या अशक्त थे। ऐसी परिस्थिति में यह परम आवश्यक था कि कोई चाल चली जाय। हो सकता है कि उक्त प्रेरणा से प्रेरित होकर बिजुलीखाँ ने कबीर की समाधि दो स्थलों पर दी हो; और बिजुलीसिंह या वीरसिंह नामक किसी हिंदू राजा के आग्रह पर दूसरी कब्र खुदवाकर उसको भ्रम में डाल दिया हो। बस्ती-गजेटियर[1] के लेखक ने लिखा है कि यद्यपि मुसलमान कबीर को दफनाने में सफल हुए तथापि कबीर उस समय मथुरा में सशरीर थे और उन्होंने वहाँ से कहला भेजा कि कब्र खोदकर देखो उसमें क्या रखा है जिसके लिये लड़ रहे हो। इससे भी इसी तथ्य का पता चलता है कि कबीर दफनाए गए थे, जलाए नहीं। हम कह ही चुके हैं कि कबीर स्वयं भी यही चाहते थे। जब हम रानी के अनुरोध 'मुरदा न होय कबीर' पर ध्यान देते हैं तब हमारी उक्त धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि राजा साहब को धोखा हुआ और बिजुलीखाँ अपने प्रयत्न में सफल रहा। मगहर में अब भी कबीर का रौजा मौजूद है। हिंदुओं ने अलग एक मंदिर भी बनवा लिया है, जिसका संबंध काशी के कबीरचौरा[2] से है।

---

(१) डिस्ट्रिक्ट गजेटियर बस्ती (१९०७), पृ० २२६-२७।

(२) गरीबदास का कथन है—"मगहर में तो कबर बनाई बिजलीखान पठाना। काशी चौरा उठि गया भौरा दूनों दीन दिवाना॥" हम पहले देख चुके हैं कि कुछ लोग मगहर के मंदिर को तथा अन्य कबीरचौरा को कबीर का समाधि-स्थान मानते हैं। गरीबदास जैसे संतों का कथन है कि भौरे से संदेश पाकर धर्मदास ने कबीर-चौरा बनवाया। इतिहास की दृष्टि से ठीक यह समझ पड़ता है कि कबीर का रौजा ही प्राचीन है। बस्ती में कबीर

'की'[1] महोदय का कथन है कि मगहर के मुसलमान इस बात को नहीं मानते कि कबीर के शव के स्थान पर फूल मिले। उनका दावा है कि कबीर मुसलमानी नियमानुकूल दफनाए गए। जब राजा वीरसिंह शिकार से लौटे तब उनकी इच्छा हुई कि कबीर का अग्नि-संस्कार किया जाय। पर मुसलमान उनको रोकने में सफल हुए। इससे धर्मदास का कथन पुष्ट एवं स्पष्ट होता है; और इसमें संदेह नहीं रह जाता कि कबीरदास दफनाए गए थे।

निधन-तिथि

कबीर की निधन-तिथि के विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। कबीरपंथियों[2] का कथन है "संवत् पंद्रह सौ औ पाँच सौ मगहर कियो गमन। अगहन सुदी एकादशी, मिले पवन में पवन।" इसका दूसरा पाठ यह है 'संवत् पंद्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन। माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥" प्रस्तुत संवतों में संवत् १५७५ अधिक लोगों को मान्य है। ग्रंथावली की प्रस्तावना[3] में इसके पक्ष में चार प्रमाण दिए गए हैं—प्रथम सिकंदर लोदी, द्वितीय नानक साहब, तृतीय हस्तलिखित पुस्तक और चतुर्थ युगलानंदजी का दिया हुआ कबीर का चित्र। इसमें संदेह नहीं कि इन प्रमाणों के आधार पर संवत् १५०५ साधु नहीं ठहरता। पर इसी के बल पर संवत् १५७५ को अटल मान लेना ठीक नहीं कहा जा सकता। हरिऔध-

---

दफनाए गए थे। कबीरचौरा को उनका जन्मस्थान कहा जा सकता है। इस मठ से धर्मदास का संबंध नहीं है। अस्तु, हम मुसलमान कबीर-पंथियों के इस कथन को कि कबीर दफनाए गए थे साधु समझते हैं, किंतु यह नहीं मानते कि वीरसिंह की असफलता का कारण उनकी शक्तिहीनता थी। हमारी समझ में कबीर के शव के संबंध में उन्हें धोखा दिया गया।

(१) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० ६६।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १९।

(३) " " पृ० २०-२१।

जी[1] ने 'भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद' नामक ग्रंथ के आधार पर संवत् १५५२ को कबीर का निधन-काल माना है और नवरत्नकार भी इसी मत से सहमत हैं। समझ में नहीं आता कि ग्रंथावली में इस मत की उपेक्षा कैसे हो गई। ग्रंथावली में जितने प्रमाण सं० १५७५ को साधु सिद्ध करने में दिए गए हैं, उतने क्या वे ही संवत् १५५२ के पक्ष में भी रखे जा सकते हैं?

सिकंदर

सिकंदर लोदी का शासन-काल उक्त ग्रंथावली में ठीक नहीं दिया गया है। ग्रंथावली का 'काल' इब्राहीम लोदी का समय है जो सन् १५१७ से १५२६ तक शासन करता रहा। सिकंदर लोदी का शासन-काल वस्तुतः सन् १४८९ से सन् १५१७ तक रहा। "यदि[2] यह बात प्रसिद्ध है कि कबीरदास सिकंदर लोदी के समय में हुए थे और उसके कोप के कारण ही उन्हें काशी छोड़कर मगहर जाना पड़ा था" तो यह घटना सन् १५१७ या संवत् १५७४ के पहले ही घट सकती है; क्योंकि सिकंदर का निधन उक्त संवत् में हो गया था। यदि यह ठीक है तो कबीर का स्वर्गवास संवत् १५७५ साधु नहीं ठहर सकता। 'की'[3] महोदय का कथन है कि सिकंदर सन् १४९५ (सं० १५५२) में जौनपुर आया था। हो सकता है कि इसी सिलसिले में उसने कबीर से बातचीत भी की हो। जायसी ने अखरावट में एक जुलाहे का बहुत ही विशद वर्णन किया है। हमारी समझ में उस जुलाहे से जायसी का तात्पर्य कबीर से है। जायसी[4] ने लिखा है "रावर आगे का कहौं, जो सँवरै मन लाइ।

---

(१) कबीर-वचनावली पृ० २६।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०।

(३) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० २८।

(४) जायसी-ग्रंथावली पृ० ३०५

तेहि राजा नित सँवरै, पूछै धरम बुलाय ॥ तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं। परै खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं ॥"
सम्भव है, और अधिक संभव है, कि जायसी ने इस स्थल पर इसी ओर संकेत किया हो। यह भी स्मरण रहे कि कबीर मगहर में अधिक दिन नहीं रहे। प्रवाद तो यहाँ तक प्रचलित है कि कबीर मरने के लिये ही वहाँ गए थे, और जाने के साथ ही मर भी गए। यदि यह ठीक है तो कबीर की निधन-तिथि सं० १५५२ में ही ठीक हो सकती है, १५०५ या १५७५ में नहीं।

नानक

गुरु नानकदेव का जन्म संवत् १५२६ में होना निश्चित है। कहा गया है[1] कि "जब नानक २७ वर्ष के थे तब कबीरदासजी से उनकी भेंट हुई थी।" यदि इस प्रवाद को ठीक मान लें तो यह भेंट संवत् १५५६ में न होकर संवत् १५५३ (१५२६ + २७) में संभव है। एक प्रकार से यह संवत् १५५२ भी ठीक हो सकता है; क्योंकि इसी संवत् में वस्तुतः नानक की अवस्था २७ वर्ष की रही होगी। नानकदेव पर कबीर का इतना प्रभाव पड़ा है कि यह घटना सत्य प्रतीत होती है। नानकदेव कबीर को 'सतगुरु' समझते थे। यदि कबीर संवत् १५७५ तक जीवित रहते तो नानक और न जाने कितनी बार उनसे मिलते। नानक जैसे जिज्ञासु व्यक्ति का कबीर से एक ही बार मिलना यही सिद्ध करता है कि उनको फिर ऐसा अवसर मिल न सका। संभवतः नानक की कबीर से यही पहली और अंतिम भेंट थी, जो उनकी यात्रा के समय हुई थी। यदि यह अनुमान कुछ भी ठीक है तो कबीर की निधन-तिथि, इस दृष्टि से भी संवत् १५५२ ठीक ठहरती है, १५७५ नहीं।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली, पृ० २०

तीसरा प्रमाण हस्त-लिखित प्रति का है। यह प्रति संवत् १५६१ की लिखी है। इसके विषय में कहा गया है[1] "जिस ढंग से कबीरदासजी की वाणी का संग्रह इस प्रति में किया गया है, उसे देखकर यह मानना पड़ेगा कि यह पहला संकलन नहीं था; वरन् अन्य संकलनों के आधार पर पीछे से किया गया था, अथवा कोई आश्चर्य नहीं कि धर्मदास के संग्रह के ही आधार पर इसका संकलन किया गया हो।"

हस्तलिखित प्रति

कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि यह प्रथम संकलन नहीं है। प्रतिलिपिकार[2] स्वयं स्वीकार करता है कि उसने जैसा पुस्तक[3] में देखा वैसा ही लिख दिया। यदि उसमें कुछ अशुद्ध है तो इसके लिये उसको दोष नहीं देना चाहिए। स्मरण रहे कि उक्त पुस्तक को मलूकदास ने बनारस में क्षेमचंद्र के लिये लिखा है। यदि कबीरदास उस समय जीवित होते तो उनसे उस पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध करा ली गई होती। जान पड़ता है कि कबीर के निधन के उपरांत क्षेमचंद्र को उनकी वाणियों की चिंता हुई और उन्होंने किसी अन्य प्रति से अपने लिये एक प्रतिलिपि करा ली। यह प्रति किस समय की गई थी यह नहीं कहा जा सकता। इसकी आवश्यकता भी इस समय नहीं है। निदान, इस दृष्टि से भी कबीर का स्वर्गवास संवत् १५५२ में ही संगत जान पड़ता है, १५०५ या १५७५ में नहीं।

ग्रंथावली का चौथा प्रमाण कबीर के चित्रों का है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर के चित्रों का बड़ा महत्त्व है। उनके विषय

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०-२१।

(२) " " अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि।

(३) यादृसि पुस्तकं दृष्ट्वा तादृसं लिखतं मया यदि शुद्धता वा समद्रोशो न दियतां (संवत् १५६१ की लिखी प्रति के अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि)।

में कहा गया है[1] "मिलान करने से दोनों चित्र एक ही व्यक्ति के नहीं मालूम पड़ते, दोनों की आवृत्तियों में बड़ा अंतर है। परंतु श्रीयुत युगलानंदजी वृद्धावस्थावाले चित्र के लिये अत्यंत प्रामाणिकता का दावा करते हैं, जो ४८ वर्ष से अधिक अवस्थावाले व्यक्ति का ही हो सकता है।"

चित्र

प्रसंगवश इस चित्र के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि यह अवश्य ही अन्य चित्रों से अधिक प्रामाणिक है। कबीर के दो चित्र जो उक्त ग्रंथावली और 'की' महोदय की पुस्तक 'कबीर एंड हिज फालोवर्स' में दिए गए हैं, परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं। ग्रंथावली के चित्र का समय अज्ञात है, किंतु 'की' के चित्र का समय १८ वीं शताब्दी है। इसमें संदेह नहीं कि ये चित्र काल्पनिक हैं। कबीर के गले और हाथ में कंठी एवं माला के अतिरिक्त कबीर की 'झीनी झीनी' चदरिया भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चित्र का आधार प्रचलित प्रभाव है, इतिहास या सत्य नहीं। स्वामी युगलानंदजी का दिया हुआ चित्र शानदार सज्जादानशीन सूफी का है, हिंदू भक्त का नहीं। पर इसी कारण-वश हम उसको काल्पनिक नहीं कह सकते। स्वामीजी उस चित्र को कबीर के नाते रखते आए हैं। किसी हिंदू भक्त की भावना उस ढंग के चित्र की उद्भावना नहीं कर सकती। कबीरपंथी महंत अब भी विशेष अवसर पर उस ढंग की टोपी का प्रयोग करते हैं। यह चित्र इस बात का प्रमाण है कि कबीर वस्तुतः सूफी थे, संभवतः वैष्णव होने पर भी विशेष अवसर पर कबीर इसी पोशाक में रहते थे। यह पोशाक उनकी रक्षा में कवच का काम करती थी, नहीं तो कट्टर काजी उनको जीवित नहीं छोड़ते और सिकंदर के कोप ने उनको कभी का चर्महीन कर दिया

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २१।

होता। हाँ, तो यह चित्र अवश्य ही इस बात का प्रमाण है कि कबीरदास ४९ वर्ष से अधिक जीवित रहे। पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे ११९ वर्ष तक जीते रहे। इस चित्र के आधार पर हम संवत् १५५२ को अधिक संगत समझते हैं; क्योंकि उस समय उनकी आयु लगभग ९६ वर्ष की रही होगी, जो प्रकृत चित्र के अधिक उपयुक्त है।

कबीर-ग्रंथावली मे कहीं इस बात का निर्देश नहीं है कि किस अवस्था मे कबीर मगहर गए अथवा वहाँ सत्यलोकवासी हुए। फिर भी उसमे कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे इस विषय पर कुछ प्रकारांतर से प्रकाश पड़ता है।

अवस्था

कबीर का कथन[1] है—"दिन दिन तन छीजै जरा जनावै। केस गहें काल विरदंग बजावै॥ कहै कबीर करुणामय आगैं। तुम्हारी क्रिपा विना यह विपति न भागै॥" कबीर की जरा का आगमन साठ वर्ष के उपरांत था[2] "बारह बरस बालापन खोयौ, वीस बरस कछू तप न कीयौ। तीस बरस के राम न सुमिर्यौ, फिरि पछितानौं विरध भयौ॥" अन्यत्र[3] कहते हैं—"थाके नैंन वैन भी थाके, थाकी सुंदर काया। जामण मरण ए द्वै थाके, एक न थाकी माया॥ चेति चेति मे मन चंचल, जब लग घट में सासा। भगति जाव परभाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा।" कबीर ने एक स्थल पर और कहा है[4] "रैनि गई मति दिन भी जाइ। भवर गए नग बैठे आइ॥" आदि अनेक स्थलों पर इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर की अवस्था लगभग १०० वर्ष की थी,

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १६४।
(२) " " पृ० १७०।
(३) " " पृ० १६८।
(४) " " पृ० २६७।

इससे अधिक नहीं। कबीर में संयम था, अतः वे दीर्घजीवी हो सकते थे, परंतु ऊपर के पद्यों में बुढ़ापे का वह चित्रण नहीं मिलता जो जायसी की पदमावत में मिलता है। अस्तु, कबीर की निधन-तिथि इस दृष्टि से भी संवत् १५५२ ही साधु है, जो न अत्यंत अधिक है न अत्यंत कम। एक बात और है। जायसी[1] ने कबीर के विषय में लिखा है—"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सो मैं हारा। प्रेम-तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥" यदि इस 'सैकरा भरई' में इधर भी कुछ संकेत हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। उस समय कबीर यातना में पड़े थे और लगभग १०० वर्ष के थे।

कबीर के समय के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है उसके विषय में त्रिपाठीजी का कथन[2] है—"इस भावनात्मक अनुमान के लिये कोई पुष्ट प्रमाण ही नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी मानना कुछ सरल नहीं कि प्रबल धार्मिक दमन के समय कबीरजी ने अपना क्रांतिकारी प्रचार किया हो और फिर भी इतने वर्ष तक जीते-जागते रहे हों।...मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि प्रबल प्रचारक और प्रबल प्रचार के लिये चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही सबसे उपयुक्त समय था।...सारांश यह कि कबीरजी का पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में और सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में होना हमारे मत से ग्राह्य नहीं हो सकता।...कबीरजी का जन्म चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुआ होगा।" इसमें संदेह नहीं कि त्रिपाठीजी का उक्त कथन उनकी उत्कट जिज्ञासा का परिणाम है। कबीर का जो स्वरूप प्रचलित है उसका निर्वाह वस्तुतः उस समय नहीं हो सकता था जिस समय प्रबल धार्मिक दमन का साम्राज्य था। यदि हमारी धारणा त्रिपाठीजी से कबीर के जीवन

त्रिपाठीजी का मत

(१) जायसी-ग्रंथावली पृ० २६९।

(२) हिंदुस्तानी १९३२, पृ० २०६-१२।

के विषय में कुछ भिन्न न होती तो हम भी उन्हीं का साथ देते। पर जब हम जानते हैं कि कबीर एक मुसलमान जुलाहा थे, सूफी मत का प्रचार करते थे, सूफियों के सत्संग में रहते थे, तीर्थ व्रत और मूर्ति का खंडन करते थे, मुहम्मद साहब के विषय में मौन रहते थे, तब हमारी समझ में यह बात भली भाँति आ जाती है कि वे इतने वर्ष तक कैसे जीवित रहे। यदि कबीर काफिर होते तो समय उनके लिये कठिन था; किंतु वे तो अधिक से अधिक जिद थे। स्वयं कबीर ने एक स्थल पर कहा भी है[1] "कहि कबीर हमारा गोविंद। चौथे पद महि जन की जिद।" यह जिद उस समय भी प्रयुक्त होता है जब कबीर का 'तीन बार पतियारा' हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जब कबीर अपने मत का प्रबल प्रचार स्वतंत्र रूप से करने लगे, काजी, मुल्ला, शेख आदि दीन के उन्नायकों की उपेक्षा कर वैष्णव-मत के प्रचार में सहायक होने लगे, यहाँ तक कि इसलाम पर भी कुछ खरी दृष्टि रखने लगे, तब उनको 'धार्मिक दमन' का सामना करना पड़ा। यदि कबीर[2] "हिंदू तुरक का साहिब एक, कह करै मुल्ला कह करै शेख" न कहते,[3] "अर्द्ध सरीरी नारि न छोड़े ताते हिंदू ही रहिए" का आदेश न देते और वेद-पुराण-पूजा-पाठ, जप-तप, आचार-विचार, एवं ब्राह्मणों की धज्जियाँ उड़ाते रहते तो कबीर के मार्ग में किसी प्रकार की अड़चन न थी। पर उस दीन के सच्चे सपूत से यह बात नहीं निभ सकी, उसने वीरता के साथ सत्य का उद्घाटन किया। फलतः उसको धार्मिक दमन का सामना करना पड़ा। अस्तु, हमारी दृष्टि में कबीर का समय सं० १४५६ से १५५२ तक ही साधु है।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१४।
(२) " " पृ० ३१४।
(३) " " पृ० ३२१।

कबीर को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि परमात्मा जीव-मात्र के हृदय में निवास करते हैं। उनका कथन है "जो दर्शन देखा चहिए, तो दर्पण मांजत रहिए।" यह कथन कबीर की कल्पना नहीं, अनुभूति है। कबीर को परमात्मा का साक्षात्कार हो गया था[1] "प्रगटी जोति कपाट खोलि दिए, दगधे जंम दुख द्वारा। प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन, मैं पायो करत विचारा॥" यह साक्षात्कार उनको इस प्रकार हुआ था[2]। "उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुविधा दुर्मति भागी। कहु कबीर अनुभौ इक देख्या, दुविधा दुर्मति भागी॥" इसके विषय में[3]—"कथ्या न जाइ नियरे अरु दूरी। सकल अतीत रह्या घट पूरी॥ जहाँ देखौं तहाँ राम समांनां। तुम्ह बिन ठौर और नहिं आना॥"—कबीर कुछ कह नहीं सकते। उनका विश्वास था[4] "हम सब माहि सकल हम माहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं॥ तीनि लोक में हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥ खट दरसन कहियत हम भेखा। हमहीं अतीत रूप नहिं रेखा॥ हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपनां आप लखावा।" परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर परमात्मा के प्रतिनिधि अथवा अवतार थे। समाधि की पराकाष्ठा में ज्ञानी प्रायः इस प्रकार का उद्घोष किया करते हैं। फिर भी कबीर अपने को एक सिद्ध विशेष समझते थे। आपका कथन है[5] "एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा। एक न भूला दास कबीरा, जाके राम अधारा।" कबीर के न भूलने का

साक्षात्कार

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १०६।
(२) ,, ,, पृ० २११।
(३) ,, ,, पृ० २३१।
(४) ,, ,, पृ० २००।
(५) ,, ,, पृ० १२५।

कारण उनका पुरुषार्थ नहीं भगवद्भक्ति है राम की कृपा है[1] "मालिन भूली जग भुलाना, हम भुलाने नाहि। कहु कबीर हम राम राखे कृपा करि हरि राई॥" इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के वचनों में जहाँ कहीं गर्वोक्तियाँ हैं वहाँ पर राम की महिमा भी अवश्य है। कबीर अपने को एक सिद्ध पुरुष समझते थे अवश्य, किंतु उनकी इस सिद्धता की एक मर्यादा थी। कबीर-पंथियों ने इस मर्यादा का ध्यान नहीं रखा। कबीर का तो कहना था "कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर। तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर॥"; पर भक्तों की दृष्टि में तो मन और शरीर का प्रश्न ही नहीं रह गया। इनके लिये तो कबीर का 'परवाना' और 'पीर-परस्ती' ही मोक्षप्रद हैं। फिर कबीर को यदि मनमाने काम के लिये बार बार बुलाएँ, उनसे राम, हरि को जाल और न जाने क्या क्या कहलाएँ तो इसके लिये कबीर को क्या कहा जाय! कबीर अपने को सिद्ध अवश्य मानते थे, किंतु न तो वे 'जुग जुग' आने का दावा करते थे और न सत्यलोक की सनद ही देते थे। 'परवाना' से उनका कुछ भी संबंध न था।

उपदेश

कबीर एक उपदेशक थे। उनको यह आदेश मिला था[2]- "हरि जी यहै विचारिया सापी कहौ कबीर। भौसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥...मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहूँ कूं समझाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‍यौ, अब मोहि दोस न लाय॥" कबीर जब किसी को समझाते थे तब वे समझते थे कि वे परमात्मा की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। अंत मे जब उन्होंने देखा कि लोग उनकी बातों पर

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३०९।

(२) क० ग्रं० पृ० ५६, ११६।

ध्यान नहीं देते हैं तब उन्होंने उसी 'दयाल' से प्रार्थना की कि इसमें उनका दोष न गिना जाय, क्योंकि वे तो आज्ञा पालन में लगे हैं। इस उपदेश को कबीर किसी पर लादना नहीं चाहते थे। आपका कथन है[1] "नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर वारि। जो त्रिपावंत होइगा, सो पीवेगा झख मारि।" पर इसी उपेक्षा की दृष्टि से वे उदासीन रहकर भी उपदेश देने में मग्न होते थे और निर्लिप्त रह सकते थे। उनके उपदेश देने, आने-जाने का कुछ प्रभाव पड़ता था[2] "दाध वली ता सब दुखी, सुखी न देखौं काइ। जहाँ कबीरा पग धरै, तहाँ टुक धीरज होइ॥" इसी 'टुक धीरज' में कबीर अपनी उपादेयता समझते थे, यही उनके उपदेश का आधार था। कबीर प्रेम-रस का पौसरा चला रहे थे। पीनेवालों की कमी थी। इसी चिंता में वे घुले जाते थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि वे किस प्रकार जनता को उसका आस्वादन कराएँ। आपका रोना है[3] "दास कबीर प्रेमरस पाया, पीवणहार न पाऊँ। विधनां वचन पिछांणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ॥" कबीर का उपदेश वह नहीं था, जो आजकल के संत-पंथी कहते हैं। कबीर उपदेश देते हैं[4] "भौ बूड़त कछू उपाइ करीजै, ज्यूँ तिरि लघै तीरा। राम नाम लिखि भेरा बाँधौ, कहै उपदेस कबीरा।" कबीर अवश्य ही उन लोगों को भाग्यवान् समझते थे जो उनके उपदेश को ग्रहण करते थे। जो 'अनमोल हीरा' कबीर को मिला था उसके विषय में वे स्वयं कहते हैं[5] "गुरु

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ६१।
(२) " " पृ० ८०।
(३) " " पृ० १४४।
(४) " " पृ० १७३।
(५) " " पृ० ३२५।

दीनी बस्तु कबीर कौ लेवहु बस्तु सम्हारि। कबीर दई संसार कौ लीनी जिसु मस्तक भाग।" अंत मे कबीर अपना जीवन निर्वाह किस प्रकार कर रहे थे, राम-रस उनको कितना मीठा लग रहा था, उसमें वे कितने निमग्न थे आदि प्रश्नों का यही समाधान है[1] "दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे। राम को नांव अधिक रस मीठौ बारंबार पीवै रे।" ये राम कौन थे[2] ? रज गुन ब्रह्मा, तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई। कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई।" यही कबीर के उपास्य राम का स्वरूप है।

दो शब्द

कबीर के जीवन के संबंध में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है वह कहाँ तक साधु है, यह हम नहीं कह सकते। हमको तो केवल इतना ही कहने का अधिकार है कि इस छान-बीन में हमने बुद्धि को प्रधानता दी है, कल्पना या भावना को नहीं। हम यह भली भाँति जानते हैं कि जो कुछ हमने लिखा है उससे बहुतों के मर्म को आघात और दिल को चोट लगेगी। पर इस उत्कट जिज्ञासा और घोर विश्लेपण के युग में उस बुद्धि एवं विवेक से काम न लेना, जिसको स्वयं कबीरदास भी अपना गुरु समझते थे, हम उचित नहीं मान सकते। जो लोग कबीर के भक्त हैं, उनके 'परवाने' को पासपोर्ट समझते हैं उनके लिये कबीर परम पुरुप हो सकते हैं। संभवतः उनकी निष्ठा फलवती भी हो सकती है; क्योंकि सब लोग भाव ही को प्रधान मानते हैं। पर जो लोग उक्त मत के कायल नहीं हैं उनके लिये कबीर की जीवनी अनिवार्य है। उनको यह भली भाँति हृदयंगम करना है कि कबीर किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए, किस प्रकार

---

(१) कबीर ग्रंथावली पृ० १६२।
(२) " " पृ० १०६।

चले, उन्होंने क्या क्या काम किए और अंत में वे संसार को क्या दे गए। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने, अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार, कबीर के जीवन-वृत्त पर कुछ प्रकाश डालने की अनधिकार-चेष्टा की है। इस चेष्टा का परिणाम क्या होगा, इसका न तो हमें लोभ ही है और न ऐसा करने की कर्मवीरों की आज्ञा ही। हमें तो अपना काम करना है। इस चेष्टा में कमी इस बात की अवश्य है कि इसको इतिहास तथा अन्य साधनों से परितः पुष्ट नहीं किया गया है। आशा है, भविष्य में अधिक सामग्री उपलब्ध होने और पर्याप्त अवकाश मिलने पर इस विषय की समुचित समीक्षा हो सकेगी। इस समय यहाँ पर केवल इतना और कहना है कि यदि हम कबीर के जीवन-वृत्त को इसी स्थल पर समाप्त कर देते हैं तो उसमें इस बात की कमी अवश्य रह जायगी कि कबीर का आध्यात्मिक जीवन किस प्रकार पल्लवित होता रहा। अस्तु, कुछ इसका भी आभास मिल जाना चाहिए।

अध्यात्म

कबीर के विषय में ऊपर जो कुछ विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर स्वतंत्र दल के सूफी थे। सूफी शब्द के अर्थ को कुछ अधिक संकुचित कर हम आसानी से कह सकते हैं कि कबीर प्रथम शिष्य, फिर सूफी, फिर अभ्यासी, फिर भक्त हुए। कबीर के शिष्य रूप से हमारा कुछ प्रयोजन नहीं। उसके विषय में हमें इतना ही निवेदन करना है कि रामानंद की शिष्यता में उन्हें तृप्ति नहीं मिली। स्वामी रामानंद के निधन के उपरांत कबीर इधर-उधर भटकते रहकर ज्ञानार्जन करते रहे। सूफियों के सत्संग से पर्याप्त लाभ उठाने पर भी उनकी बात उनकी दृष्टि में खरी नहीं उतरी। जिस कुरान और इसलाम के नाम पर रहीम और रब के बंदों का खून किया जाता था, जिस खुदा की

ओट में मंदिरों को भ्रष्ट कर मस्जिदों का निर्माण होता था, उसका किसी रूप में सत्कार करना कबीर को खलता था। भारत में रहते हुए कबीर उस समय यह नहीं समझ सकते थे कि उनकी भाषा अरबी, फारसी या तुर्की है। सूफियों की केवल एक बात उनके दिल में घर कर सकी। वे प्रेम की पीर से पागल हो गए। उन पर इस पागलपन मे 'मजनूँ' बनने का जुनून सवार न हो सका। मुसलमानों के आचार-विचार से वे सहमत न थे। उनको ज्ञान की पिपासा थी। पंडितों से उनको किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी। उन्होंने उनके शास्त्रार्थ से लाभ अवश्य उठाया। खंडन करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ी। उस समय तंत्र और योग के प्रचार की कमी नहीं थी। गोरखनाथ अपना योग जगा चुके थे। उन्होंने हिंदू और मुसलमानों की एकता पर भी ध्यान दिया था। गोरखनाथ के अनुयायियों से कबीर मिले और उनसे वहुत कुछ सीखा। सूफियों की शराब से उनका महारस कम चोखा नहीं था। कबीर उसका आस्वादन करने लगे। उनका कथन है[1] "प्रेम-पियालौ पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।" स्पष्ट ही है कि यह 'प्रेम-पियाला' सूफियों का प्रसाद है और 'नागिनी' योगियों की कृपा का परिणाम। इस 'प्रेम-पियाला' का आस्वादन कर कबीर राम को भुला न सके। उनको राम मिल गया[2] "कहै कबीर स्वाद जब पाया, वंक नालि रस खाया। अमृत झरै ब्रह्म परकासै, तब ही मिलै राम राया॥" अब कबीर शून्य मंडल में ध्यान धरने लगे और जीवन्मुक्त होने का दम भरने लगे[3] "कहै कबीर गुर परम गियान।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली, पृ० १११।
(२) " " पृ० १२६।
(३) " " पृ० १६८।

सुंनि मंडल मैं धरैं धियान ॥ घंड परैं जीव जैहै जहां । जीवत ही ले राखै तहां[1] ॥"

कबीर इस परिस्थिति में अधिक दिन तक नहीं रह सके। उनको उनके राम का वह स्वरूप स्पष्ट गोचर होने लगा जो अंतर्यामी और घटघटव्यापी ही नहीं, सहायक और तारक भी है, जो गज की पुकार सुनता, पतितों को पूत बनाता और प्रह्लाद की रक्षा के लिये पत्थर फोड़कर निकल सकता है। अब तो "[2]भगति नारदीं मगन सरीरा। इहि विधि भव तरि कहै कबीरा ॥" अब तो कबीर की दृष्टि में[3] "कथणीं बदणीं सब जंजाल। भाव भगति अरु राम निराल ॥" निदान, कबीर निखरकर 'केवल वैष्णव' बन गए; और समाधि की अवस्था में "हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपनां आप लखावा' ॥' का उद्घोष करने लगे। यही कबीर के अध्यात्म का चरम विकास है। और, इसी को कबीर-पंथी अक्षरशः सत्य मानकर कबीर की भक्ति कर रहे हैं। उनके विषय मे फिर कभी निवेदन किया जायगा। यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

---

(१) राधा-स्वामी मत के अनुयायियों को कबीर का यही रूप ग्राह्य है। उनमें जो कुछ नवीनता है उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८३।

(३) " " पृ० १९६।